वैदिक धर्म

[दिसंबर १९५५]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय	१	श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१॥) रु
,,	३०	एक ईश्वरकी उपासना अर्थात् पुरुषमेध	१॥) ,,
,,	३६	सच्ची शांतिका सच्चा उपाय	१॥),,
,,	४०	आत्मज्ञान - ईशोपनिषद्	१) ,,

डाक व्यय अलग रहेगा।

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम

किल्ला-पारडी (जि सूरत)

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

		मूल्य	डा. व्य
१	ऋग्वेद संहिता	१०)	२)
२	यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	३)	॥)
३	यजुर्वेद काण्व संहिता	४)	॥।)
४	यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	६)	१।)
५	यजुर्वेद काठक संहिता	६)	१।)
६	यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रम्	१॥)	॥)
७	यजुर्वेद वा. सं. पादसूची	१॥)	॥)
८	ऋग्वेद मंत्रसूची	२)	॥)
९	अथर्ववेद	} समाप्त होनेसे छप रहे हैं।	
१०	सामवेद		

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए तत्तीस ऋषियोंका दर्शन।)

१ से १८ ऋषीयोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(अलग ऋषिका दर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	।)
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	।)
३ शुनःशेप	,,	,,	१)	।)
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	।)
५ कण्व	,,	,,	२)	।)
६ सव्य	,,	,,	१)	।)
७ नोधा	,,	,,	१)	।)
८ पराशर	,,	,,	१)	।)
९ गोतम	,,	,,	२)	।=)
१० कुत्स	,,	,,	२)	।=)
११ त्रित	,,	,,	१॥)	।-)
१२ संवनन	,,	,,	॥)	=)
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	॥)	=)
१४ नारायण	,,	,,	१)	।)
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	।)
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	।-)
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	॥)	।-)
१८ सप्त	,,	,,	॥)	=)
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१॥)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से १८ काण्ड तीन जिल्दोंमें)

१ से ५ काण्ड	८)	१)
६ से १० काण्ड	८)	१)
११ से १८ काण्ड	१०)	१।)

देवता-परिचय ग्रन्थमाला

१	ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
२	वैदिक अग्नि-विद्या	२)	।)
३	वैदिक चिकित्सा	१॥)	।)

दैवत-संहिता

भाग १	} समाप्त हो गये हैं।	
भाग २		
भाग ३	६)	१)
अग्नि देवता	४)	१)
अग्नि-इंद्र-सोम	५)	१)

सामवेद कौथुम शाखीय.

ग्रामगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः	६)	१)

श्रीमद्भगवद्गीता

१ पुरुषार्थबोधिनि टीका (एक जिल्दमें)

मूल्य १२॥ रु. डा. व्य. २॥)

२ ,, (तीन जिल्दोंमें) अध्याय १ से ५	५)	१।)
,, अध्याय ६ से १०	५)	१।)
,, अध्याय ११ से १८	५)	१।)
३ श्रीमद्भगवद्गीता लेखमाला भाग १-२-७	३॥)	१।)

(भाग- ३-४-५-६ समाप्त हो गये हैं।)

४ भगवद्गीता श्लोकार्ध सूची	॥।)	=)
५ गीताका राजकीय तत्वालोचन	२)	।=)
६ श्रीमद्भगवद्गीता (केवल श्लोक और अर्थ)	१)	=)
७ श्रीमद्भगवद्गीता (प्रथम भाग) लेखक श्री. गणेशानंदजी	१)	।)

मन्त्री- स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी, जि. सूरत

वर्ष ३६ वैदिक धर्म अंक १२

क्रमांक ८४

कार्तिक, विक्रम संवत् २०१२, दिसंबर १९५५

शत्रुको भगाना

अर्धं वीरस्य शृतपामनिन्द्रं परा शर्धन्तं नुनुदे अभि क्षाम् ।
इन्द्रो मन्युं मन्युम्यो मिमाय भेजे पथो वर्तनिं पत्यमानः ॥

ऋ० ७।१८।१६

(इन्द्र क्षां अभि) इन्द्र मातृभूमिको देखकर (वीरस्य अर्धं) वीरके नाशक (शृतपां) दूसरेका अन्न खानेवाले (शर्धन्तं अनिन्द्रं) विनाशक शत्रुको (परा नुनुदे) दूर करता है। (इन्द्र) इन्द्रने (मन्युम्य: मन्युं मिमाय) शत्रुओंसे उनके क्रोधका नाश किया और (पत्यमान पथः वर्तनिं भेजे) भागनेवालेके मार्गसे शत्रुको भगा दिया।

मातृभूमिके हित करनेके लिये शत्रुको इन्द्रने दूर किया और शत्रुओंके क्रोधको निष्फल करके उनको भगा दिया ।



स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

महाभारत (सचित्र)

		मूल्य	डा.व्य.
१	आदिपर्व	७)	२)
२	सभापर्व	३॥)	॥।)
३	शांतिपर्व (पूर्वार्ध)	१०)	१।)

महाभारतकी समालोचना (भाग १-२)

प्रत्येक भागका	॥।)	।)

रामायण कालीन आर्यसंस्कृति निबंधमाला

(भाग १)	१॥)	॥)

वेद-परिचय

(तीन भागोंमें)

प्रथम भाग	१॥)	।)
द्वितीय भाग	१॥)	।)
तृतीय भाग	२)	।<)

वेद-प्रवेश

१	मरुद्देवताका मन्त्र-संग्रह	५)	॥।)
२	अश्विनौ देवताका मन्त्र-संग्रह	५)	१)
३	ऋग्वेदके अग्नि-सूक्त	२)	॥)
४	मरुद्देवता मंत्र सामन्वय-चरणसूची २)		॥)

योग-साधन ग्रन्थमाला

१	ब्रह्मचर्य	१॥)	।)
२	योगके आसन	२॥)	।<)
३	आसनोंका चित्रपट	।)	<)
४	योगसाधनकी तैयारी	१)	≶)
५	सूर्य नमस्कार	१)	≶)
६	सूर्य नमस्कारोंका चित्रपट	।)	<)
७	सूर्य भेदन व्यायाम	॥।)	=)

आगम निबन्ध-माला

१	वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥।)	=)
२	वैदिक सर्प विद्या	॥=)	=)
३	वेदमें चर्खा	॥=)	=)
४	मानवी आयुष्य	॥)	=)
५	इन्द्रशक्तिका विकास	॥।)	=)
६	वेदमें कृषि-विद्या	।)	<)

७	छूत और अछूत (भाग २ रा)	१)	≶)
	(भाग १ समाप्त है।)		
८	शतपथ बोधामृत	।=)	<)

बालकोंकी धर्मशिक्षा

१	प्रथम भाग	≶)	<)
२	द्वितीय भाग	।<)	<)
३	वैदिक पाठमाला	।<)	<)

वेदका स्वयं-शिक्षक

(भाग १ और २) प्रत्येक भागका मूल्य १॥)	।<)

संस्कृत-पाठ-माला

(२४ भाग)

(संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

२४ भागोंका मूल्य	१२)	१।)
प्रत्येक भागका मूल्य	॥)	=)

१	सुबोध संस्कृत व्याकरण भाग १	॥)	≠)
२	सुबोध संस्कृत व्याकरण भाग २ छप रहा है।		
	साहित्य सुधा (पं. मेधाव्रतजी) भाग १	१।)	।)

अन्य पुस्तकें

१	विजया दशमी (दशहरा)	॥)	<)
२	आर्योंका भगवाध्वज	।)	<)
३	हिन्दी मुसलमानोंकेकारनामोंका चिट्ठा	।=)	<)
४	इस्लामके आक्रमणकी जागृतिका पार्श्वभूमि	१।)	।<)
५	श्री छत्रपति शिवाजी महाराजका जयसिंहको पत्र	≶)	<)
६	शेषशायी नारायण	=)	<)
७	स्पिनोझा और उसका दर्शन	२)	।<)
८	विष्णु सहस्रनाम	१॥)	।<)
९	मंगलमूर्ति गणेश	१॥।)	≠)
१०	संध्या उपासना	≠)	≠)
११	ईश्वरका साक्षात्कार (प्रथम भाग)	३)	॥)
१२	गा-ज्ञान-कोश (द्वितीय भाग)	६)	१॥)

संस्कृत पुस्तक

कुमुदिनी चंद्रः	४)	॥=)

दिव्य जीवन

[श्री अरविंद]

अध्याय २२

[गताङ्कसे आगे]

प्राणकी समस्या

तस्मात् सर्वायुषमुच्यते ॥ तैत्तिरीय उपनिषद् २।३॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनातिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता १८।६१

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद...।

सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥ तैत्तिरीयोपनिषद् २ । १ ॥

इसलिये वह सर्वायु या विश्वप्राण कहा जाता है। ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। वह समस्त प्राणियोंको यन्त्रारूढके समान अपनी मायाके द्वारा घुमाया करता है। जो सत्य, ज्ञान, अनन्त-स्वरूप ब्रह्मको जानता है वह सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ समस्त कामनाके पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं प्राण, विश्वकी कुछ विशेष परिस्थितियोंमें, चित्‌शक्तिकी अभिव्यक्ति है, यह चित्‌शक्ति अपने स्वरूपमें अनन्त, निरपेक्ष एवं निर्बाध है, अपने एकत्व और आनन्दको अविच्छेद्य रूपमें धारण करती है, यह सच्चिदानन्दतत्वकी चित्‌शक्ति है। इस विश्वक्रियाकी वह केन्द्रीभूत परिस्थिति, जिस कारण कि वह अपने प्रतीयमान रूपोंमें अनन्त सत्‌की शुद्ध अवस्था और अविभक्तशक्तिकी स्वरूप-निष्ठासे भिन्न होती है, अज्ञानसे आवृत मनकी विभाजक शक्ति है। अविभक्त शक्तिके इस विभक्तकर्मके परिणाम होते हैं। द्वन्द्व और विरोधोंकी प्रतीति, ये द्वन्द्व और विरोध ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो ये सच्चिदानन्दके स्वभावके निषेधक हैं। इनमें सच्चिदानन्दका स्वभाव नहीं है, अतः ये उसकी अभिव्यक्ति नहीं हैं।

ये सच्चिदानन्दके निषेधक, द्वन्द्व और विरोध मनके लिये स्थायी यथार्थता रखते हैं, परन्तु मनके आवरणके पीछे छिपे दिव्य विश्व-चैतन्यके लिए बहुरूपधारी परमार्थ तत्वके केवल व्यावहारिक भ्रान्त रूप हैं। इसलिये विश्व ऐसा रूप धारण करता है कि उसमें विरोधी सत्योंका संग्राम होता रहता है, इन सत्योंमेंसे प्रत्येक अपने आपको परिपूर्ण करनेकी चेष्टा करता है, प्रत्येक अपने आपको परिपूर्ण करनेका अधिकार रखता है; इसलिये समस्याओं और रहस्योंका समूह प्रकट होता है; इन समस्याओं और रहस्योंका समाधान करना आवश्यक होता है, कारण इस समस्त सम्भ्रमके मूलमें एक छिपा हुआ सत्य और ऐक्य रहता है जो कि समाधानके लिए और इस समाधानके द्वारा जगतमें अपनी अनावृत अभिव्यक्तिके लिये दबाव डालता है।

इस समाधानको मनको ढूढना है, किन्तु केवल मनको नहीं। वह समाधान प्राणमें, प्राणीके कर्ममें और प्राणीकी चेतनामें होना है। चेतनाने शक्ति-रूपसे विश्व-क्रियाको और उसकी समस्याओंको उत्पन्न किया है; चेतनाको शक्ति-रूपसे जिन समस्याओंको उसने उत्पन्न किया है उनका समाधान करना है और विश्व क्रियाको उसके गुह्य उद्देश्य और विकासमान सत्यको अनिवार्य परिपूर्णताकी ओर ले जाना है। परन्तु इस प्राणने क्रमशः तीन रूप धारण किये हैं। इनमें प्रथम है भौतिक; यहां अवमग्न चेतना स्वयं अपने अभिव्यंजक कर्ममें और अपनी शक्तिके अभिव्यंजक रूपोंमें छिप जाती है, कारण चेतना कर्ममें दृष्टिसे ओझल हो जाती है और रूपमें विलीन हो जाती है। दूसरा रूप है प्राणमय; यहां उन्मज्जित होती हुई चेतना जीवनकी शक्तिके रूपमें और देहके वर्धन, कर्म और क्षयके रूपमें अर्ध-व्यक्त रहती है; यह अपने मूक बंधनसे अर्धमुक्त होती है, यहां प्राणीकी लालसा और तृप्ति या घृणाके रूपमें शक्तिका स्पंदन होता

है, किन्तु अपनी आत्म-सत्ताके और अपने वातावरणके ज्ञानके रूपमें ज्योतिका स्पंदन प्रारंभमें तो लेशमात्र भी नहीं होता और पीछे जो होता है वह स्वल्प ही होता है।

प्राणका तीसरा रूप है मनोमय; यहां उन्मज्जित चेतना जीवनके तथ्यको मानस ज्ञान और प्रतिक्रिया करनेवाले प्रत्यक्ष और भावके रूपमें ग्रहण करती है, वह इस नवीन (प्रतिक्रिया करनेवाले) भावको जीवनका तथ्य बनानेका प्रयत्न करती है, प्राणीकी आन्तरिक सत्ताका परिवर्त्तन करती है और उसके अनुरूप बाहरी सत्ताको भी परिवर्तित करनेका प्रयत्न करती है। यहां, मनमें, चेतना अपनी शक्तिके कर्म और रूपके बंधनसे मुक्त हो गई है, किन्तु वह अभीतक अपने कर्म और रूपकी प्रभु नहीं है; कारण यह व्यक्तिगत चेतनाके रूपमें उन्मज्जित हुई है और इसलिये अपनी सम्पूर्ण क्रियाओंके केवल बहुत स्वल्प अंशका ज्ञान रखती है।

मानव जीवनकी सम्पूर्ण जटिलता और कठिनाई यहीं पर है। मनुष्य यही मनोमय पुरुष है, मानस शक्तिके रूपमें क्रिया करनेवाली मानस चेतना है; जिस वैश्व शक्ति और प्राणका मनुष्य एक अंश है उसका वह एक विशेष प्रकारका ज्ञान रखता है; परन्तु चूंकि मनुष्यको उस शक्ति और प्राणके वैश्व भावका अथवा स्वयं अपनी सत्ताके पूर्ण रूपका ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह जीवन-सामान्यके साथ अथवा स्वयं अपने जीवन (प्राण) के साथ सच्चे बलशाली और विजयशील प्रभुत्वमें व्यवहार नहीं कर सकता। वह भौतिक द्रव्यको इसलिए जानना चाहता है। जिससे कि वह भौतिक वातावरणका प्रभु हो जाय; प्राणको इसलिए जानना चाहता है जिससे कि वह प्राणमयी सत्ताका प्रभु हो जाय; वह मनको इसलिए जानना चाहता है जिससे कि वह मनकी उस महान धुंधली क्रियाका प्रभु हो जाय जिसमें कि वह पशुके समान आत्मचेतनाके प्रकाशको केवल एक झलक मात्र नहीं है अपितु बढते हुए ज्ञानकी बढती हुई ज्वाला है।

अतः वह अपने आपको इसलिए जानना चाहता है जिससे कि वह अपना प्रभु (स्वराट्) हो जाय, विश्वको इसलिए जानना चाहता है जिससे कि वह विश्वका प्रभु (सम्राट्) हो जाय। मनुष्यमें जो सत् है उसकी यही प्रेरणा है; मनुष्य जो चित् है उसकी यह आवश्यकता है; जिस महाशक्तिने उसके जीवन प्राणका रूप धारण किया है उसका यह अन्तर्वेग है; जो सच्चिदानन्द ऐसे जगत्में व्यक्तिका रूप धारण करता है जिसमें वह अपने आपको अभिव्यक्त करता है और साथ ही अपने आपका निषेध करता प्रतीत होता है, उसकी मनुष्यमें यह गूढ इच्छा है। जिन अवस्थाओंमें इस आन्तरिक अन्तर्वेगकी तृप्ति होती है उन अवस्थाओंको प्राप्त करलेना ऐसी समस्या है जिसके समाधानके लिए मनुष्यको सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए और इसके लिए वह अपनी सत्ताके स्वभावके द्वारा और अपने भीतर स्थित देवके द्वारा बलपूर्वक प्रेरित किया जाता है; और जबतक इस समस्याका समाधान नहीं हो जाता; इस अन्तर्वेगकी तृप्ति नहीं हो जाती तब तक मानव जाति अपने परिश्रमको नहीं छोड सकती। या तो मनुष्यको अपने भीतर स्थित देवको तृप्त करके अपने आपको परिपूर्ण करना चाहिए अथवा उसे अपनी अपेक्षा किसी नवीन और महत्तर, श्रेष्ठतर प्राणीको उत्पन्न करना चाहिये जो उसे तृप्त करनेमें उसकी अपेक्षा अधिक समर्थ हो। मनुष्यको या तो स्वयं देव-मानव बन जाना चाहिये अथवा अतिमानवके लिये स्थान छोड देना चाहिये।

विश्वमें पदार्थोंके स्वभावसे ही यह तर्कसंगत परिणाम निकलता है; क्योंकि मनुष्यकी मानसचेतना पूर्णतया ज्योतिर्मयी चेतना न होनेके कारण भौतिक द्रव्यके आवरणसे पूरी तरह उन्मज्जित नहीं हुई है अपितु महान् उन्मज्जनमें क्रमशः प्रगति कर रही है; विकास-सृष्टिकी जिस दिशामें मनुष्य प्रकट हुआ है वह मनुष्यकी वर्त्तमान अवस्था पर रुक नहीं सकती; यह विकास-सृष्टि या तो उसमें ही उसकी वर्त्तमान अवस्थासे आगे बढ जायगी अथवा यदि मनुष्यमें आगे बढनेकी सामर्थ्य न हो तो मनुष्यका परित्याग करके किसी दूसरे प्राणीको उत्पन्न करके उसमें अपना कार्य करेगी। जो मानसिक भाव जीवनका तथ्य बननेका प्रयत्न कर रहा है। वह तबतक प्रगति करता रहेगा जब तक कि वह सत्ताका पूरा सत्य न बन जाय, अपने आपको अपने क्रमिक आवरणोंमेंसे उन्मुक्त न कर ले, चेतनाकी ज्योतिमें सप्रकाश एवं आधिकाधिक परिपूर्ण और शक्तिमें सहर्ष परिपूर्ण न हो जाय; कारण शक्ति और ज्योतिकी इन दो अवस्थाओंमें और इनके द्वारा सत्ता अपने आपको अभिव्यक्त करती है, क्योंकि सत्ता अपने स्वभावमें चेतना और शक्ति है।

परन्तु तीसरी अवस्था, जिसमें उसके ये दो उपादान मिलते हैं, एक हो जाते हैं और अन्तमें परिपूर्ण हो जाते हैं, आत्म-सत्ताका तृप्त आनन्द है। हमारे जैसे विकासमान जीवनके लिए इस अनिवार्य परिसमाप्तिका अवश्यंभावी

अर्थ है इस आत्माको प्राप्त करना जो कि इसके जन्मके बीजमें निहित था, और इस प्राप्तिके साथ साथ, जिस चेतन शक्तिकी क्रियासे यह जीवन व्यक्त हुआ है उस क्रियामें निहित सम्भवताओंको पूर्णतया कार्यान्वित करना। इस प्रकार हमारी मानव सत्तामें जो शक्यता निहित है वह है सच्चिदानन्दका व्यक्तिगत जीवन और वैश्व जीवनके एक विशेष सामंजस्य और एकीकरणमें, अपने आपको अनुभव करना; इस अनुभूतिका उद्देश्य यह है कि मनुष्य सर्व-सामान्य चेतनामें शक्तिको सर्वसामान्य क्रियामें, सर्व-सामान्य आनन्दमें उस परात्पर वस्तुको अभिव्यक्त करे जिसने कि पदार्थोंका यह रूप धारण किया है।

प्राणका उपादान चेतना है; अतः प्राणकी अवस्था उस उपादान भूतचेतनाकी मूलभूत अवस्था पर निर्भर करती है; कारण जैसी चेतना होगी वैसी ही शक्ति होगी। चेतनाकी एक अवस्था ऐसी होती है कि वह अनन्त, एक, अपने कर्मों और रूपोंसे अतीत होती है, यद्यपि वह उन्हें आलिं-गित, अनुप्राणित, संगठित और कार्यान्वित करती है; ऐसी चेतना सच्चिदानन्द की है। इस चेतनाके अनुरूप ही शक्ति होगी, वह शक्ति अपने क्षेत्रमें अनन्त, अपने कर्मोंमें अनन्त अपनी शक्ति और आत्मज्ञानमें परात्पर होगी। दूसरी चेतना भौतिक प्रकृतिकी चेतना जैसी होती है, वह अवमग्न आत्म-विस्मृत, स्वयं अपनी शक्तिके प्रवाहमें उसे आपाततः जाने बिना गति करनेवाली है, यद्यपि वह दो तत्वों (चेतना और शक्ति) में नित्य संबंध होनेके कारण उस प्रवाहको जो उसे चालित करता है वस्तुतः उसे नियत करती है।

जैसी यह चेतना है तदनुरूप ही शक्ति होगी; वह शक्ति निश्चेष्ट और निश्चेतन द्रव्यकी प्रचण्ड गति होगी, उसमें जो निहित है उससे अज्ञ होगी, एक प्रकारकी निष्ठुर घटनाके द्वारा, अनिवार्य रूपमें सुखी अवसरके द्वारा, यंत्ररूपसे अपने आपको परिपूर्ण करती प्रतीत होगी, साथ ही वह यह सब करती हुई, यथार्थमें निर्दोष रूपसे ऋत् और सत्यके धर्मका पालन करती है; ऋत और सत्यके इस धर्मको परम चेतन पुरुषकी इच्छाने जो चेतन पुरुष उसकी क्रियाके मूलमें छिपा है, निर्धारित किया है। तीसरी चेतना स्वयं अपनेमें विभक्त होती है, जैसी कि मनमें है; वह अपने आपको विविध केन्द्रोंमें परिच्छिन्न करती है; वह यह जाने बिना कि दूसरे केन्द्रोंमें क्या है और दूसरोंसे उसका क्या संबंध है, प्रत्येकको अपने आपको परिपूर्ण करनेके लिए प्रवृत्त करती है; वह पदार्थों और शक्तियोंको उनके एक दूसरेके साथ आपाततः विभाग और विरोधमें जानती है, उनके यथार्थ ऐक्यमें नहीं।

इस चेतनाके अनुरूप ही शक्ति होगी, वह ऐसा जीवन रूप होगी जैसे कि हम हैं और हम अपने चारों ओर देखते हैं; यह व्यक्तियोंके जीवनोंका संघट्ट और संग्रथन रूप होगी; इन व्यक्तिगत जीवनोंमेंसे प्रत्येक दूसरोंके साथ अपने संबं-धको जाने बिना स्वयं अपनी परिपूर्णताके लिए प्रयत्न करेगा: यह जीवन विभक्त और विरोधी या भिन्न शक्तियोंका संघर्ष और कठिन समझौता-रूप होगा। इस शक्तिका मनमें यह रूप होगा। विभक्त और विरोधी या विपरीत विचारोंका मिश्रण, आघात, संग्राम और अदृढ संयोग इन विचारोंको यह ज्ञान नहीं हो सकता कि उन्हें एक दूसरेकी आवश्यकता है; उन्हें यह ज्ञान भी नहीं हो सकता कि उनके मूलमें एक ऐक्य रहता है जो कि उनके द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त कर रहा है और उस ऐक्यमें उनकी विभिन्नताओंका अन्त हो जाता है और उस ऐक्यके अंशोंके रूपमें उनका एक विशेष स्थान है।

चौथी अवस्था वह है जिसमें चेतना भेद एवं ऐक्य दोनों पर अधिकार रखती है और ऐक्य भेदको धारण करता है और उसका शासन करता है; वहां चेतना समष्टिके धर्म, सत्य और ऋत्का और व्यष्टिके धर्म, सत्य और ऋत्का एक साथ ज्ञान रखती है और दोनों परस्परके ऐक्यमें सचे-तनतया समंजस हो जाते हैं; वहां चेतनाका सम्पूर्ण स्वभाव ऐसा है कि एकमेव तत्व अपने आपको बहु जानता है और बहु अपने आपको एकमेव जानते हैं। वहां इस चेतनाके अनुरूप स्वभाववाली ही शक्ति होगी; वहां ऐसा जीवन होगा जो कि सचेतनतया ऐक्यके धर्मका पालन करेगा और साथ साथ भेदमें प्रत्येक पदार्थको उसके समुचित नियम और कर्मके अनुसार परिपूर्ण करेगा; वह ऐसा जीवन होगा जिसमें कि समस्त व्यक्ति एक साथ स्वयं अपनेमें और एक दूसरेमें निवास करेंगे, वे एक दूसरेमें इस प्रकार निवास करेंगे जैसे एक चेतन सत्पुरुष अनेक अन्तरात्माओंमें रहता है; चेतनाकी एक शक्ति अनेक मनोंमें रहती है, शक्तिका एक हर्ष अनेक जीवनोंमें क्रिया करता है, एक यथार्थ आनन्द अनेक हृदयों और देहोंमें अपने आपको परिपूर्ण करता है।

इन चार अवस्थाओंमें जो सबसे पहली अवस्था है वह चेतना और शक्तिके इस समस्त प्रगतिशील संबंधका मूल कारण है; यहां चेतना और शक्तिकी स्थिति सच्चिदानन्दकी अपनी स्वरूपभूतसत्तामें हैं और वहां चेतना और शक्ति एक हैं, कारण वहां शक्ति सत्की चेतना है जो (शक्ति) कि अपनी चेतनाको खोये बिना अपने आपको व्यक्त करती है; इसी प्रकार चेतना सत (सच्चिदानन्द) की ज्योतिर्मयी शक्ति है जो कि अपने आपको और अपने आनन्दको नित्य जानती है और पूर्ण ज्योति और आत्म-आधिकारको इस सामर्थ्यको कभी भी नहीं खोती। दूसरा संबंध भौतिक प्रकृतिका है; यहां सत्ता भौतिक विश्वकी अवस्थामें है जो कि सच्चिदानन्दका स्वयं अपने द्वारा अपना महा-निषेध है; कारण यहां शक्ति चेतनासे आपाततः पूर्णतया पृथक् हो गई है; यह सर्व नियामक और निर्भ्रान्त अचेतनका सुन्दर चमत्कार है जो कि यद्यपि केवल छद्मरूप है किन्तु आधुनिक विज्ञान उसे भ्रमसे विश्वदेवका यथार्थ रूप मानता है।

तीसरे संबंधमें सत्ताकी स्थिति उस मन और प्राणमें है जिन्हें कि हम इस निषेधसे उन्मज्जित होते हुए देखते हैं और जिसके द्वारा ये मोहित हैं; भौतिक विश्वकी सर्व शक्तिमती निश्चेतनासे जो यह अर्ध-शक्त चेतन प्राणी मनुष्य प्रकट हुआ है, जिसका व्यक्तित्व पेचेदगीसे भरा है, उसमें सहस्रों समस्यायें है जिनके साथ मन और प्राण संघर्ष किया करते हैं; निःसन्देह इस संघर्षमें अधीनता स्वीकार करनेसे इनके विनाश की तो लेशमात्र भी संभावना नहीं है किन्तु साथ ही इन्हें सविजय समाधानका कोई स्पष्ट ज्ञान या सहज बोध भी नहीं है। चौथे सबधमें सत्ताकी स्थिति अतिमनमें होती है; यह वह परिपूर्ण सत्ता है जो कि अन्तमें उन समस्त जटिल समस्याओंका समाधान करेगी जो कि पूर्ण-निषेधसे उन्मज्जित हुए आंशिक स्वीकरणसे उत्पन्न हुई हैं और वह समस्याओंका समाधान एकमात्र संभव प्रकारसे करेगी; वह उस पूर्ण-स्वीकरणके द्वारा समाधान करेगी जो कि अव्यक्ततामें निहितको और महा-निषेधके छद्मरूपके पीछे विकासमें अभिप्रेतको परिपूर्ण करेगा। यथार्थ मनुष्यका यही यथार्थ जीवन है जिसकी ओर हमारा यह आंशिक जीवन और आंशिक अपरिपूर्ण मनुष्यत्व प्रगति कर रहा है; इसका पूर्ण ज्ञान और पथप्रदर्शन हमारे भीतर अचेतनमें रहता है, किन्तु हमारे सचेतन अंगोंमें केवल धुंधली और संघर्ष करते हुए पूर्वदृष्टि, अनुभूतिके कुछ खंड, आदर्शकी कुछ झलकें रहते हैं; कवि, ऋषि, परात्परदर्शी, योगी, मनीषी, महाबुद्धिमानों और महात्माओंमें अन्तःप्रकाश और अन्तःस्फुरणाकी चमकें रहती हैं।

जो तथ्य वर्तमान कालमें हमारे सामने उपस्थित हैं, उनसे हम देख सकते हैं कि मनुष्यमें उसके मन और प्राणकी वर्तमान भूमिकाके अनुरूप जो चेतना और शक्तिकी अपूर्ण स्थिति है उससे उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयां मुख्यतया तीन हैं। पहली कठिनाई यह है कि मनुष्य अपनी सत्ताके केवल स्वल्प अंशका ज्ञान रखता है, वह केवल अपने उत्तल, मन उत्तल प्राण और उत्तल देहको जानता है और इन्हें भी पूरी तरह नहीं जानता; इनके नीचे उसके अवचेतन और प्रच्छन्न मनकी गुह्य तरंग है, उसके अवचेतन और प्रच्छन्न प्राणिके अन्तर्वेग हैं, उसका अवचेतन देह है; यह सब उसका वह विशाल भाग है जिसे वह नहीं जानता और न जिसका वह शासन कर सकता है अपितु वही उसे जानता और उस पर शासन करता है।

कारण, चूंकि सत्ता, चेतना और शक्ति एक हैं इसलिए हम अपनी सत्ताके केवल उतने ही अंश पर कोई यथार्थ अधिकार रख सकते हैं जितने अंशके साथ हम आत्मज्ञानके द्वारा अपना तादात्म्य कर सकें; शेष भाग अपनी उस चेतनासे शासित होगा जो कि हमारे उत्तल मन, प्राण और शरीरके लिए प्रच्छन्न है। परन्तु फिर भी, चूंकि उत्तल और अवचेतन एवं प्रच्छन्न दोनों वस्तुतः एक ही क्रिया हैं, दो पृथक् क्रियायें नहीं हैं, इसलिए हमारे विशालता और अधिक शक्तिशाली अंगको हमारे लघु और अल्प शक्तिशाली अंश-समूहका शासन और नियमन करना चाहिए; इसलिए हम अपनी सचेतन सत्तामें भी अपने अवचेतन और प्रच्छन्न अंशसे शासित होते हैं और हम जहां आत्म-प्रभुत्व और आत्मसंचालन करते हैं वहां भी हम केवल उसके उपकरण हैं जो कि हमें निश्चेतन प्रतीत होता है।

प्राचीन कालके ज्ञानियोंने इसी भावको इस रूपमें कहा है कि मनुष्य अपने आपको स्वतंत्र इच्छासे कर्मोंका कर्त्ता मानता है, किन्तु यथार्थमें प्रकृति उसके समस्त कर्मोंको नियत करती है और यहांतक कि ज्ञानियोंको भी अपनी

प्रकृतिके ही अनुसार कर्म करना पड़ता है। परन्तु उन ज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रकृति हमारे भीतर स्थित पुरुष (सच्चिदानन्द) की चेतनाकी सृजनकारी शक्ति है; यह पुरुष प्रकृति-रूपमें अपनी विपरीत क्रिया और अपने आयात निषेधका रूप धारण किये हुए हैं, इसलिए उन्होंने उसकी चेतनाकी इस सृजनकारी क्रियाको ईश्वरकी माया या भ्रमोत्पादिका शक्ति नाम दिया है; उन्होंने यह भी कहा है कि ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित है और वह उन्हें यंत्रारूढ़के समान अपनी मायाके द्वारा घुमाया करता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपनी सत्ताका केवल तभी प्रभु हो सकता है जब कि वह अपने मनसे इतना अतीत हो जाय कि वह आत्म-ज्ञानमें ईश्वरके साथ तादात्म्य कर ले और चूंकि यह निश्चेतनामें या अवचेतनामें संभव नहीं है, चूंकि नीचे निश्चेतनमें डुबकी लगानेसे लाभ नहीं हो सकता, इसलिए अपने भीतर जहाँ ईश्वर स्थित है वहाँ जानेसे और उसमें अपना आरोहण करनेसे जो हमारे लिए अतिचेतन है, अतिमन है, यह ऐक्य पूर्णतया स्थापित किया जा सकता है।

कारण, इस निषेधकी अवस्थाओंमें जो कि स्वीकरण होनेका प्रयास कर रहा है, अपरा मायाके द्वारा जो कुछ अवचेतनमें किया जाता है उसका सचेतन ज्ञान अपने धर्म और सत्यमें, परा और दिव्य मायामें रहता है। क्योंकि यह अपरा प्रकृति उसे कार्यान्वित करती है जो कि परा प्रकृतिमें ज्ञात और सकल्पित है। विश्वमें दिव्य ज्ञानकी भ्रमोत्पादिका शक्ति (माया) जो कि प्रतीतियोंकी सृष्टि करती है उसी ज्ञानकी सत्य शक्तिसे संचालित होती है जो (ज्ञान) कि प्रतीतियोंके मूलमें रहनेवाले सत्यको जानता है और हमारे लिए उस स्वीकरणको तैयार रखता है जिसके लिए वे क्रिया कर रही हैं। यहाँका आंशिक और प्रतीयमान रूपवाला मनुष्य वहाँ ऐसे मनुष्यको पायगा जो कि पूर्ण और यथार्थ होगा; वह यथार्थ मनुष्य उस स्वयं सत्के साथ जो कि अपने विश्व-विकास और विश्वक्रियाका सर्वज्ञ ईश्वर है, अपनी पूर्ण एकताके द्वारा पूर्णतया आत्म-चेतन सत्ताके लिए समर्थ होगा।

दूसरी कठिनाई यह है कि मनुष्य अपने मन प्राण और शरीरमें विश्वसे पृथक् है और इसलिए जिस प्रकार वह अपने आपको नहीं जानता इसी प्रकार समानरूपमें और यहाँतक कि इससे अधिक अपने साथी जीवोंको जाननेमें असमर्थ है। वह अनुमानों, सिद्धान्तों, पर्यवेक्षणों और सहानुभूतिकी एक विशेष सदोष सामर्थ्यके द्वारा इनके विषयमें एक स्थूल मानसिक धारणा बनाता है; किन्तु यह ज्ञान नहीं है। ज्ञान केवल सचेतन तादात्म्यसे ही आ सकता है, कारण यही एकमात्र सच्चा ज्ञान है— सत्ताका अपने आपको जानना। जितना हम अपने आपको सचेतनतया जानते हैं इतना ही हम समझते हैं कि हम हैं, शेष छिपा रहता है।

इसी प्रकार हम उसे ही यथार्थतया जान सकते हैं जिसके साथ हम अपनी चेतनामें एक हो जाते हैं; किन्तु उसे भी हम उतना ही जानते हैं जितना कि हम उसके साथ एक होते हैं। यदि ज्ञानके साधन परोक्ष और अपूर्ण हैं, तो प्राप्त हुआ ज्ञान भी परोक्ष और अपूर्ण होगा। यह ज्ञान हमें कुछ सीमित व्यावहारिक लक्ष्यों, आवश्यकताओं, सुविधाओंको, जिसे हम जानते हैं उसके साथ हमारे संबंधोंके एक अपूर्ण और अरक्षित सामंजस्यको प्राप्त करनेमें समर्थ बनायगा; यद्यपि यह प्राप्ति कुछ अनिश्चित भद्दे रूपमें होगी किन्तु फिर भी हमारे मानसिक दृष्टिकोणसे पर्याप्त पूर्ण होगी। हमारा ज्ञेयके साथ पूर्ण संबन्ध तो केवल सचेतन ऐक्यसे ही प्राप्त हो सकता है।

इसीलिये हमें अपने साथियोंके साथ सचेतन एकता प्राप्त करनी चाहिये न कि केवल प्रेम-जन्य सहानुभूति या मानस-ज्ञान-जन्य सद्भावना; कारण यह सहानुभूति या सद्भावना सर्वदा उनकी केवल स्थूलसत्ताके ज्ञानपर आश्रित होगी और इसीलिए यह स्वयं अपूर्ण होगी; इसके अतिरिक्त हमारे और उनके भीतर अवचेतन और प्रच्छन्न तत्वसे कुछ ऐसा अज्ञात और अविजित तत्त्व प्रकट होगा जिसकी बाढ़से यह सहानुभूति या सद्भावना विफल या निषिद्ध कर दी जायगी। परन्तु यह सचेतन एकत्व केवल तभी स्थापित किया जा सकता है जब कि हम उस वैश्वमें प्रवेश करें जिसमें कि हम अपने साथियोंके साथ एक हैं; और वैश्वकी पूर्णता सचेतनतया केवल उसमें रहती है जो कि हमारे लिए अतिचेतन है, जिसे कि हम अतिमन कहते हैं; कारण, यहाँ हमारी साधारण सत्तामें, वैश्वका अधिकतर भाग अवचेतन है और इसलिए मन, प्राण और शरीरकी इस साधारण स्थितिमें

उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। भिन्न प्रकृति अपनी समस्त क्रियाओंमें अहंकार-बद्ध है, भिन्न हुए व्यक्तित्व-रूपी खम्बेके साथ तीन श्रृंखलाओंसे बद्ध है। वह केवल अति-मन है जो कि भेदमें ऐक्य (भेदाभेद) पर अधिकार रखता है।

तीसरी कठिनाई है विकासमान सत्ताके भीतर शक्ति और चेतनाके बीचमें विभाग। सबसे पहला विभाग तो वह है जो कि स्वयं विकासने ही अपनी क्रमिक तीन रचनाओंमें, भौतिक द्रव्य, प्राण और मनमें किया है जिसमेंसे प्रत्येक अपनी स्वतंत्र कार्यप्रणाली रखता है। प्राण देहके साथ युद्ध करता रहता है; वह उसे अपनी (प्राणकी) कामनाओं और अन्तर्वेगोंको तृप्त करनेके लिए विवश करनेका यत्न करता है और उसकी परिमित शक्तिसे ऐसी मांग करता है जिसकी पूर्ति केवल अमर और दिव्य शरीर ही कर सकता है और शरीर दास बना और पीडित हुआ, कष्टका अनुभव करता है और प्राण जो उससे मांग करता है उसके विरुद्ध मूकभावसे निरंतर विद्रोह करता रहता है।

मन दोनोंके साथ युद्ध किया करता है; कभी यह शरीरके विरोधमें प्राणकी सहायता करता है; कभी प्राणिक प्रवृत्तिको संयत करता है। और प्राणिक कामनाओं, रागावेशों और अति-चालक शक्तियोंसे देहकी रक्षा करता है; वह यह भी प्रयत्न करता है कि वह प्राण पर अधिकार कर ले और उसकी शक्तिको स्वयं अपने (मनके) उद्देश्योंके लिए स्वयं अपनी (मनकी) क्रियाओंमें अधिकतम हर्षोंके लिए, मानसिक, सौंदर्यमय और भावावेगमय लक्ष्योंकी तृप्ति और उनकी मानव सत्तामें परिपूर्णताके लिए, उपयोग करे। और प्राण भी यह अनुभव करता है कि वह दास बनाया जाता है और उसके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है, उसका दुरुपयोग किया जाता है और इसीलिए अपने ऊपर अधिष्ठित अज्ञ, अल्पज्ञ, अत्याचारीके विरुद्ध बहुधा विद्रोह करता है।

यह हमारे अंगोंका युद्ध है जिसे कि मन संतोषप्रद रूपमें शान्त नहीं कर सकता, कारण उसे ऐसी समस्यासे व्यवहार करना पड़ता है जो कि उसके लिए असमाधेय है, वह समस्या है मरणशील प्राण और देहमें अमरताकी अभीप्सा। मन केवल समझौतोंकी एक लम्बी परम्पराको ही प्राप्त कर सकता है; अथवा वह जड़वादीके अनुसार हमारी प्रतीयमान सत्ताको मरणशील ही मानकर समस्याका परित्याग कर सकता है; अथवा वह वैरागी और धार्मिकके पथका अनुसरण करके पार्थिव जीवनका तिरस्कार और परित्याग करके अधिक सुखमय और सरल लोकोंमें जा सकता है। परन्तु सच्चा समाधान है मनसे ऊपर उस तत्त्वको प्राप्त करना जिसका धर्म है अमरता और उसके द्वारा हमारी सत्ताकी मरणशीलता पर विजय प्राप्त करना।

परन्तु शक्ति और चेतनामें भी वह मूलभूत विभाग है जो कि इस अशक्तिका मूल कारण है। केवल मानसिक, प्राणीके और शारीरिक सत्ताओंमें ही एक दूसरेके साथ विभाग नहीं है अपितु इनमेंसे प्रत्येक स्वयं अपने भीतर अपने विरोधमें विभक्त है। शरीरकी शक्ति उसके भीतर रहनेवाले सहजबोधात्मक या अन्नमय पुरुषकी शक्तिसे कम है; प्राणकी शक्ति उसके भीतर रहनेवाले अन्तर्वेगमय पुरुष, प्राणमय पुरुषसे कम है; मनकी शक्ति उसके भीतर रहनेवाले बौद्धिक और आवेगमय पुरुष मनोमय पुरुषकी शक्तिसे कम है। कारण पुरुष आन्तरिक चेतन है जो कि अपनी पूर्ण आत्मानुभूतिके लिए अभीप्सा करता है; इसलिये किसी भी समय चाहे जैसा भी व्यक्तिका रूप क्यों न हो उससे वह सर्वदा असंतुष्ट ही रहता है और उसकी अभीप्सा उससे परे ही रहती है; और जिस शक्तिने इस व्यक्तिगत रूपमें अपनी स्थिति धारण की है वह सर्वदा अपने पुरुषसे उस ओर धकेली जाती है जो कि उसकी स्थितिके लिए असाधारण है, उससे अतीत है।

इस प्रकार निरन्तर उससे धकेली जाती हुई वह उसका उत्तर देनेमें बहुत कष्ट अनुभव करती है, और अपनी वर्तमान शक्तिसे महत्तर शक्तिकी ओर विकसित होनेमें तो और भी अधिक कष्ट अनुभव करती है। इस त्रिविध पुरुषकी मांगोंको पूरा करनेके प्रयत्नमें शक्ति अस्त-व्यस्त हो जाती है और सहज बुद्धिको सहजबुद्धिके, अन्तर्वेगको अन्तर्वेगके, आवेगको आवेगके, भावको भावके विरुद्ध खड़ा कर देती है; यह इनमेंसे एकको तृप्त करती है, दूसरेका निषेध करती है, फिर पछताती है और जो पहले किया था उसे फिर करने लगती है; अनन्त बार व्यवस्थापन, प्रतिदान और पुनर्व्यवस्थापन करती है किन्तु किसी ऐक्य तत्त्व पर नहीं पहुंचती और मनमें भी, जिस चेतन-शक्तिको सामंजस्य

और ऐक्य करना चाहिए वह न केवल अपने ज्ञान और इच्छामें परिच्छिन्न है, अपितु ज्ञान और इच्छा भी विषम और बहुधा एक दूसरेके विरोधी होते हैं। ऐक्य करनेवाला तत्त्व ऊपर अतिमनमें है; कारण केवल वहीं समस्त भेदोंमें अभेतन ऐक्य रहता है; केवल वहीं इच्छा और ज्ञान सम और पूर्णतया सामंजस्य होते हैं; केवल वहीं चेतना और शक्ति अपने दिव्य समीकरणको प्राप्त करते हैं।

मनुष्य जितना जितना आत्म-चेतन और सच्चे अर्थमें विचारशील प्राणी होता जाता है उतनी ही तीक्ष्णतासे वह अपने अंगोंमें इस वैषम्य और विरोधका अनुभव करता है और अपने मन, प्राण और शरीरमें सामजस्य, ज्ञान, इच्छा और भावावेगमें सामजस्य, अपने समस्त अंगोंमें सामंजस्यको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। कभी कभी उसकी यह कामना किसी ऐसे व्यावहारिक समझौतेको प्राप्त करके जो कि अपने साथ एक सापेक्ष शान्तिको लादेगा, रुक जाती है; परन्तु समझौता केवल मार्गमें विश्रामरूप ही हो सकता है, क्योंकि हमारे भीतरका देव अन्तमें ऐसे पूर्ण सामंजस्यसे कममें संतुष्ट नहीं होगा जिसमें कि हमारी बहुविध शक्यताओंका पूर्ण विकास अन्तर्गत न हो। इससे जो कम होगा वह समस्याका टालना होगा, समाधान नहीं होगा; अथवा वह कोई तात्कालिक समाधान होगा जोकि पुरुषको अपने सतत आत्म-विस्तार और आरोहणमें एक विश्रामस्थानका कार्य करेगा।

ऐसे पूर्ण सामंजस्यकी आवश्यक शर्तें होंगी पूर्ण मन, प्राणकी पूर्ण क्रिया और पूर्ण शरीर। परन्तु प्रश्न यह है कि जो जड़मूलसे पूरी तरह अपूर्ण है उसमें पूर्णताका तत्त्व और शक्ति हमें कहां मिलेंगे? मनकी जड़ें विभाग और परिच्छिन्नतामें हैं अतः वह हमें उसे नहीं दे सकता; प्राण और शरीर भी उस पूर्णताको नहीं दे सकते, कारण वे विभाजक और परिच्छिन्नतापादक मनके शक्ति और रूप हैं। पूर्णताका तत्त्व और पूर्णताकी शक्ति अवचेतनमें हैं, किन्तु वे अपरा मायाके आवरणमें लिपटे हुए हैं; वे वहां मूक पूर्वाभासकी अवस्थामें हैं जो कि अप्राप्त आदर्श के रूपमें उन्मज्जित हो रहे हैं। अतिचेतनमें ये उन्मीलित एवं नित्य प्राप्त हैं और मानवमें अवतरणकी प्रतीक्षामें हैं, किन्तु फिर भी हमारा आत्म-अज्ञान इन्हें हमसे पृथक् रखता है। अतः संगति करनेवाले ज्ञान और शक्तिको हमें न तो अपनी वर्तमान स्थितिमें खोजना चाहिये और न नीचे अपितु ऊपर खोजना चाहिये।

इसी प्रकार जब मनुष्य उन्नति करता है तो वह जगत् के साथ अपने सम्बन्धोंका संचालन करनेवाले वैषम्य और अज्ञानको तीक्ष्णरूपमें अनुभव करता है और तीक्ष्णरूपमें इनके प्रति असहिष्णु होता है, तब वह सामंजस्य, शान्ति, हर्ष और ऐक्यके तत्त्वको खोज निकालनेका अधिकाधिक प्रयत्न करता है। यह भी उसे केवल ऊपरसे ही प्राप्त हो सकता है। कारण, मनुष्यका जीवन अध्यात्मरूपमें और व्यवहारमें उसके साथियोंके जीवनके साथ तभी एक हो सकता है और व्यक्ति अपने विश्वभावको तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह अपने मन, इच्छा, हृदय, प्राण और शरीरको उन्नत और विकसित करे, उसे ऐसे मनको अपने भीतर विकसित करना चाहिए जोकि अपने समान दूसरोंके मनोंका ज्ञान रखेगा और परस्परके अज्ञान और भ्रान्त धारणासे मुक्त होगा।

ऐसी इच्छाको विकसित करना चाहिए जो कि दूसरोंकी इच्छाको संप्रतीत करती है और अपना उसके साथ तादात्म्य करती है; ऐसा भावावेगमय हृदय जो कि अपने समान दूसरोंके आवेगोंको धारण करता है; ऐसी प्राण-शक्ति जो कि दूसरोंकी शक्तियोंका संवेदन करती है और उन्हें अपना मानकर स्वीकार करती है और अपने समान उन्हें परिपूर्ण करती है; ऐसा शरीर जो कि आत्माके लिए जेलकी दीवार-रूप और संसारको विरोधी मानकर उससे आत्म-रक्षा रूप न हो। यह सब उस ज्योति और सत्यके विधानके आधीन होना चाहिए जो कि स्खलन और भ्रान्तियोंसे, हमारे और दूसरोंके मन, इच्छा, भावावेग और प्राण शक्तियोंके पाप और असत्योंसे अतीत होंगे। सबका यह जीवन अवचेतन और अतिचेतनमें है, परन्तु ऐसी उपाधियोंमें है कि जिस कारण हमारे लिए ऊपरकी ओर गति करना आवश्यक हो गया है। कारण जो मूक प्रेरणा विकासमान पुरुष (अन्तरात्मा) को ऊपर लाती हुई हमारे मनुष्यत्वकी भूमिका पर ले आई है उसका लक्ष्य वह देव नहीं है जो कि अचेतनके समुद्रमें जहां तमसे गूढ़ (लिपटा हुआ) तम

है, * छिपा है, अपितु वह देव है जो कि सनातन ज्योतिके समुद्रमें, हमारी सत्ताके उच्चतम आकाशमें स्थित है।

अतः यदि मानव जातिको उच्चतम लक्ष्य पर पहुंचनेसे पहले मार्गमें ही एक ओर नहीं गिर जाना है और विजयको उत्सुक प्रसव वेदनामयी विश्वमाताको दूसरी और नवीन सृष्टियोंके लिए नहीं छोडना है तो उसे इस आरोहणकी अभीप्सा करनी चाहिए; यह आरोहण निःसन्देह प्रेम, मानसिक प्रकाश और अधिकृत करने और आत्म-प्रदानकी प्राणिक प्रेरणाके पथसे गति करेगा; किन्तु यह उस अतिमानस ऐक्यमें ले जायगा जो इनसे परे है और इन्हें परिपूर्ण करता है। एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दके साथ, एवं अपनी सत्तामें और सबमें सबके साथ सचेतन ऐक्यके अतिमानस प्रत्यक्षके आधारपर प्रतिष्ठित मानव जीवनमें मानव जातिको अपने अन्तिम श्रेय और मोक्षको खोजना चाहिए। और प्राणके देवत्वकी ओर आरोहणमें हमने इसे उसकी चौथी भूमिका कहा है। [क्रमशः]

* (१) तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलम्। ऋग्वेद
(२) या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः॥
जो जल कि सूर्यसे ऊपर ज्योतिर्मय लोकोंमें हैं और जो नीचे हैं। ऋग्वेद ३।२२।३

रशियन भाषा व संस्कृतभाषा

ये भाषाएं कितनी पास हैं वह देखिये—

रशियन वाक्य	संस्कृत वाक्य
(१) स्पेर्व अगोन, पातोम् दुइम्	(१) पूर्वं अग्निः पश्चाद् धूमः
(२) एति द्वे मोई स्येस्त्री, ते ओबे त्वोई स्येस्त्री	(२) एते द्वे मदीये स्वसारौ ते उभे त्वदीये स्वसारौ
(३) ओखोत्नीक, ति लि पुइच् पश ? नेत्	(३) आखेटक, त्वं कि पिशितं अश्नि ? नैतत्
(४) मोया स्नोखा ने स्पीत् द्नयोम्	(४) मदीया स्नुषा न स्वपिति दिने
(५) स्तराया माति दयोत् म्योद सम्यलं एतोय उदवे ओबोयम् सिनोव्यम्	(५) स्थवीरा माता ददाति मधु समांसं एतस्यै विधवायै उभाभ्यां च सूनुभ्याम्

संस्कृतसे प्राकृत और प्राकृतसे प्रांतभाषाएं उत्पन्न हुई हैं। इसी तरह संस्कृतसे रूसकी भाषा हुई होगी ऐसा प्रतीत होता है। (स्पेर्व) पूर्व, (अगोन) अग्नि, (पातोम) पश्चात, (दुइम्) धूमः, (एति द्वे) एते द्वे, (मोई) मदीये, (ते ओबे) ते उभे, (त्वोई) त्वदीये, (मोया स्नोखा) मदीया स्नुषा। ये पद कितने पास हैं देखिये।

कैथलिक ईसाइयोंका

भारतके शिक्षाक्षेत्रमें व्यापक जाल

(लेखक— श्री प. शिवदयालुजी, मेरठ)

निकट भूतकालमें ४ से ८ दिसम्बर तक बम्बई नगरमें जो भारतके कैथालिक ईसाइयोंका महासम्मेलन हुआ है और जिसमें ५००००की उपस्थिति बतलाई जाती है अनेक प्रकारके चित्र आदि भी प्रदर्शित किय गये थे।

शिक्षाके सम्बन्धमें प्रोटस्टैन्टोंके १६० मिशनोंके अलावा जो अकेले कैथालीक मिशनने भारतमें कार्य किया है उसका दिग्दर्शन कराते हुए बतलाया गया है कि भारतमें सम्प्रति कैथालीक ईसाइयोंकी शिक्षा संस्थाओंमें ९४७६०१ छात्र छात्राएं शिक्षा पाती हैं। जिनमें ५०३३२४ कैथालीक तथा ४४४२७७ हिन्दू हैं उनमें कुछ मुसलमान भी सम्मिलित हैं।

महाविद्यालयोंमें ६६१० कैथालीक २०४७० हिंदू
माध्यमिक विद्यालयोंमें १०६७२२ कैथालीक १४१०१३ हिंदू
प्राथमिक विद्यालयोंमें ३७९९९२ कैथालीक २८४७९४ हिंदू
शिक्षा पा रहे हैं।

कैथालीकोंकी ५० वर्षीय प्रगति निम्न प्रकार है—

महाविद्यालय	१९००	में	१२	तथा
	१९५०	में	४२	
माध्यमिक विद्यालय	१९००	में	१२८	तथा
	१९५०	में	४६४	
प्राथमिक विद्यालय	१९००	में	१२४७	तथा
	१९५०	में	४६५६	

यह आंकडे इस बातके पुष्ट प्रमाण हैं कि विगत ५० वर्षोंमें कैथालिक ईसाइयोंने शिक्षाके क्षेत्रमें आश्चर्यजनक प्रगति की है। पिछले ४०० वर्षोंमें उनसे तिगुने और बना डाले हैं। इसी क्रमसे आसाम, छोटा नागपुर, मध्यभारत, विन्ध्यप्रदेश, सौराष्ट्र, बम्बई तथा दक्षिण भारतमें इन्होंने ईसाइयोंके बनानेका कार्य किया है। भारतकी स्वतन्त्रताके युगमें ब्रिटिश तथा उसके मित्र अमेरिकाने भारतमें ईसाइयतका प्रचार अत्यन्त प्रबल वेगके साथ किया है। यह सब प्रचार ब्रिटिशकी भयकर कूटनीतिका परिणाम है। मुसलमानोंको तोडना, हरिजनोंको फोडना, आदिम व्यक्तियोंको बहकाना और सिक्खोंका बिलगाना उनके नीच कुचक्रका ही परिणाम है।

ससारमें प्रोटेस्टैन्ट ईसाइयोंके १६० मिशन कार्य कर रहे हैं उनमेंसे एक सैवेन्थ डे ऐडवैनटिष्ट मिशन भी है। इस मिशनका कार्य भी समारक विभिन्न देशोंमें फैला हुआ है। इनके कार्यका मुख्य स्वरूप शिक्षणालयों एव चिकित्सालयों द्वारा ईसाइयतका प्रचार करना है।

हमारे सामने सम्प्रति इनके दक्षिणी एशियाखण्डका विवरण विद्यमान है जिससे पता चलता है कि दक्षिण एशियामें जिसमें भारत, श्रीलका, बर्मा आदि सम्मलित हैं इनके १९ आश्रम वालीके विद्यालय काम कर रहे हैं। जहाँ पाठशाला की पुस्तकोंके अतिरिक्त उद्योग-धन्धोंकी, कृषि एव प्रारम्भिक चिकित्साकी शिक्षा भी दी जाती है। १२५ विद्यालय तथा १४ चिकित्सालय एव औषधालय भी चलाए जा रहे हैं।

भारतमें चलनेवाली सस्थाओंपर इस मिशनने २३२२३०९ रु० सन् १९५२ में व्यय किया। जिसमेंसे १५३६६४२॥) शिक्षा पर तथा ७८६६६५॥) चिकित्सा पर व्यय किया गया। इसमें १४ लाखसे अधिक रुपया अमेरिकासे दानमें प्राप्त किया। वस्त्र व खाद्य वस्तुएँ इससे पृथक् हैं जो अमेरिकासे आई।

इस रिपोर्टसे दो बातोंकी ओर हमारा ध्यान जाता है प्रथम यह कि अमेरिका भारतमें काम करनेवाले प्रत्येक मिशनको जो लाखों रुपए वार्षिककी सहायता देता है तथा कैथालिक मिशनको जो कितने ही करोडोंकी सहायता देता है उसका रहस्य क्या है? क्या अमेरिकाका यह सात्विक दान है क्या इसके पीछे पाश्चात्य सस्कृतिका ऋषियोंकी पवित्र भूमि भारतमें प्रचार तथा स्वसाम्राज्यके भावोंका विस्तार स्पष्ट नृत्य नहीं कर रहा है। तर्क एव बुद्धि शून्य ईसाइयतकी मान्यताओंके सस्कार चिकित्सालयके रोगियोंके

ईश्वर-विश्वास

(लेखक— श्री. इन्द्र विद्यावाचस्पति)

तर्कद्वारा अनुभूतिकी पुष्टि

मनुष्य अनुभूतिद्वारा जिस विश्वासपर पहुंचता है, तर्कसे उसकी पुष्टि करता है। मनुष्य जीवनके साथ, सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नोंका उत्तर पहले हृदयसे ढूंढता है, फिर तर्कका आश्रय लेता है। यह उसका भ्रम है कि वह जिन धार्मिक विचारोंको मान रहा है, वह मुख्य रूपसे उनके चिन्तन और विवेचनाके परिणाम हैं। वह या तो जन्मकी परिस्थितियोंके कारण किसी मतका अनुयायी होता है, अथवा हृदयपर कोई गहरा प्रभाव पडनेसे विशेष प्रकारके धार्मिक सिद्धान्तोंको मानने लगता है। प्रायः पुत्र अपने पिताके धार्मिक विचारोंको लेकर उत्पन्न होता है। अपने समुदाय या परिवारसे रुष्ट होकर, अन्य समुदायकी सज्जनता या सेवाभावसे प्रभावित होकर और कभी कभी नैतिक अथवा आर्थिक स्वार्थके कारण उसके विश्वास बदल जाते हैं जो लोग अपने जन्मसे प्राप्त मतमें परिवर्तन करते हैं, उनमें केवल तर्क और विवेचनाका सहारा लेनेवालोंकी संख्या सौमें एकके अनुपातसे अधिक नहीं। केवल चिन्तन और तर्क द्वारा मनुष्य सुधारक बन सकता है, आस्तिकसे नास्तिक हो सकता है, परन्तु धार्मिक विचारोंमें परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि धर्मका आधार विश्वाससे और विश्वासका सम्बन्ध प्रधानरूपसे हृदयकी भावनाओंसे है, दिमागकी कतरनोंसे नहीं। ईश्वर-विश्वास अन्तरात्मासे उठता है, बाहिरसे डाला नहीं आसकता। युक्ति और तर्कसे तो उस विश्वासकी पुष्टि ही हो सकती है। यह निश्चित बात है कि साधारण दशामें मनुष्यका अन्तरात्मा किसी ऐसी शक्तिकी आवश्यकताको अनुभव करता और उसकी सत्ताके पक्षमें गवाही देता है जो मानवी शक्ति और प्रकृतिकी शक्तिसे ऊंची होनेके कारण ' परमात्मा ' और सबका संचालन करनेवाली होनेके कारण ' ईश ' पदकी अधिकारिणी हो।

अनुभव ईशकी सत्ताका पहला प्रमाण है। यद्यपि इसकी पुष्टि तर्क और प्रमाणोंसे की जा सकती है परन्तु यह निर्विवाद बात है कि तर्क और प्रमाण ईश्वरसिद्धिके सहायक साधन है, मूल साधन नहीं।

ईश्वरकी सिद्धिमें युक्तियां

ईश्वरकी सत्ताको अनुभव करनेवाला मनुष्य अपने विश्वासकी पुष्टि तर्कसे कर सकता है।

संसारमें जितनी उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुएँ हैं, सबका कोई न कोई कर्ता होता है। यह चराचर जगत्

हृदयों पर अंकित करना तथा हिन्दु बालक बालिकाओंकी सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावनाओंको कुचलकर उन्हें ईसाइयतके रंगमें रंगना इनका ध्येय नहीं है?

अमेरिकाके धनिकों तथा सरकारका यह दान घोर आसुरी एवं विषदानके तुल्य है। अमेरिकाका अन्न, दुग्ध, वस्त्र, पैसा विषसे बुझा हुवा है इसका ग्रहण भारतीयताके जीवनके लिये चुनौती है। विदेशी मिशनरी तो अमेरिकाके एजेन्ट ठहरे तथा ईसाइयतके प्रचारक ठहरे किन्तु भारतीय सरकार एवं भारतीयताका दम मारनेवाले नेता इस विष-दान एवं विष-पानको क्यों सहन कर रहे हैं यह समझमें नहीं आता।

यदि स्वतन्त्र भारतकी सरकारने इस विदेशी विषके वमन और उसके परदेशियोंके हाथों खुले प्रयोगपर प्रतिबन्ध न लगाया तो भारतसे हिन्दु-धर्म एवं संस्कृति आनेवाली शताब्दीमें अत्यन्त क्षीण पड जावेगी।

आज दिन भारत पर विदेशी धन एवं जनकी चढाई भारतीयताके लिये हिंदुत्वके लिये खुली चुनौती है। देखना है भारतीयताके दावेदार गांधीकी मान्यता करनेवाले सज्जन इस चुनौतीका क्या उत्तर देते हैं।

उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है, अतः इसका कोई न कोई कर्ता होना चाहिये, वह कर्ता ही ईश्वर है।

दृश्यमान जड वस्तुओंको गति देनेके लिये किसी चेतन-शक्तिकी आवश्यकता है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि पदार्थोंको गति देनेवाली शक्तिका नाम ईश है। यह स्पष्ट है कि यदि अनन्य शक्ति रखनेवाली कोई चेतनशक्ति न हो तो प्राकृतिक जड पदार्थोंमें गति उत्पन्न नहीं हो सकती।

संसारमें व्यवस्था है। ग्रह, नक्षत्र आकाशमें भ्रमण करते हैं, परन्तु परस्पर टकराते नहीं। दिनके पीछे रात और रातके पीछे दिनका आना अनिवार्य है। आगकी ज्वाला ऊपरको जाती है, पानी नीचेकी ओर बहता है। जड या चेतन—जिस वस्तुपर दृष्टि डालें उसकी रचनामें, आकृतिमें, और उन्नति तथा क्षयमें एक अनिवार्य व्यवस्था – जिसे नियति कहते हैं – दिखाई देती है। कोई व्यवस्था चेतन-व्यवस्थापकके बिना नहीं चल सकती। यह व्यवस्थापक ईश्वर है।

ईश्वरकी सत्ताके पक्षमें एक प्रबल प्रमाण–जिसे हम अन्य सबकी अपेक्षा बलवान् और निर्णायक प्रमाण कह सकते हैं यह है कि प्रत्येक समय और प्रत्येक देशमें-निन्यानवें फीसदी नरनारियोंने एक अनन्त शक्तिसम्पन्न चेतनशक्तिको किसी न किसी रूपमें स्वीकार किया है। वे बिना किसी तर्कके या उपदेशके, यह मानते रहे हैं, और आज भी मानते हैं कि इस ससारका संचालन और मनुष्यके भाग्योंका अधिष्ठातृत्व एक ऐसे पुरुषके हाथोंमें है, जो चेतन है, सर्वशक्तिसम्पन्न है और स्वयं संसारकी उलझनोंसे ऊपर है। उसके नाम और रूप अनेक हैं, मनुष्योंने अपनी बुद्धि और परिस्थितिके अनुसार भिन्न भिन्न रूपोंमें उसकी कल्पना की है, परन्तु उसके निजस्वरूप और प्रभावके सम्बन्धमें मनुष्यजाति प्रायः सहमत है। इसे मनुष्य जातिकी अन्तरात्माकी साक्षी कहते हैं।

नास्तिकता—एक प्रतिक्रिया

नास्तिकता-मनुष्यसे अधिक शक्तिसम्पन्न एक व्यापिका शक्तिमें विश्वास मनुष्यके लिये स्वाभाविक है और नास्तिकता अस्वाभाविक, परन्तु अस्वाभाविक होती हुई भी वह उन अनेक प्रकारकी प्रतिक्रियाओंका परिणाम होती है, जो मनुष्यके भवमें जीवनकी घटनाओंके कारण उत्पन्न होती हैं। मनुष्यके जीवनमें अनेक घटनायें ऐसी हो जाती हैं, जो उसके सहज विश्वासको ठोकर पहुँचा देती हैं। प्रियजनोंका वियोग, मित्रद्वारा द्रोह, अत्यन्त निर्धनता परिवारजनोंके दुःसह कष्ट, संसारमें फैली हुई चोर अपमानताकी अनुभूति और कुसंग आदि अनेक कारण हैं, जो मनुष्यके विश्वासरूपी भवनकी दीवारोंको गिरा देते हैं। वही कारण जो एक प्रबल इच्छा शक्तिवाले व्यक्तिके मनमें संकटोंपर विजय प्राप्त करनेका प्रबल संकल्प उत्पन्न करते हैं और जो प्रकृतिसे त्यागकी ओर झुकनेवाले हृदयको वैरागी बना देते हैं, सामान्य व्यक्तिको नास्तिकताकी ओर धकेल देते हैं। ऐसे लोग सब दुःखों और विघ्नबाधाओंकी उत्तरदायिता ईश्वरपर डालकर उससे इन्कार कर देते हैं। आश्चर्य यह है कि ऐसे नास्तिक पहले ईश्वरकी सत्ताको मान लेते हैं, फिर उससे रुष्ट होकर उससे इन्कारी हो जाते हैं। उनसे पूछा जा सकता है कि यदि वह है ही नहीं तो तुम नाराज़ किससे हो और अन्यायी किसे कहते हो।

उन्नीसवीं सदीके अन्त और बीसवीं सदीके आरम्भमें पश्चिमके देश नये विज्ञान और हेतुवादके प्रभावमें आकर नास्तिकताके प्रवाहमें बहने लगे थे, परन्तु बीसवीं सदीका मध्य उन्हें फिर ईश्वर विश्वासकी ओर झुका हुआ पाता है। पहले कुछ वैज्ञानिकों और दार्शनिकोंका यह विचार हो गया था कि वे वैज्ञानिक खोज और हेतुवादक प्रयोग करके संसारके आदि कारणतक पहुंच जायंगे और रसायनशालाओंमें मनुष्य और जीवजन्तुओंकी रचना करने लगेंगे, परंतु अब उन लोगोंकी यह भ्रांति दूर हो चुकी है। उन्हें कुछ दूर पहुँचकर विज्ञान और हेतुवाद के आगे अज्ञेयताका अंधकार छाया हुआ दिखाई देता है। इस कारण अब पश्चिमके बड़े बड़े वैज्ञानिक और हेतुवादी भी यह स्वीकार कर रहे हैं कि वे विज्ञान या हेतुवादकी सहायतासे जगत्के मूल कारण सम्बन्धी प्रश्नको बीच-धारामें तो पहुंच सकते हैं, उससे पार नहीं जा सकते। पार जानेके लिये उन्हें एक परोक्ष परंतु अनन्त शक्तिसम्पन्न महान् चेतन सत्ताको स्वीकार करना पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्यजातीका ९९ वें फीसदी अंश संसारके एक व्यवस्थापककी सत्ताको किसी न किसी रूपमें स्वीकार करता है।

*

ईशका स्वरूप

हम इस परिणामपर तो पहुँच गये कि जगत्के कर्ता और नियन्ता ईश्वरकी सत्ता मनुष्यकी अनुभूति और तर्क द्वारा असन्दिग्ध रूपसे सिद्ध होती है, परन्तु इन प्रश्नोंका उत्तर देना अभी शेष है कि उस ईशका स्वरूप क्या है? वह स्थूल है या सूक्ष्म? वह एक है या अनेक? वह दूर है या पास? उसकी शक्ति परिमित है या अपरिमित? और उसका पूर्ण रूपसे जानना सम्भव है या नहीं?

इन सब प्रश्नोंके उत्तर ईशोपनिषद्में बडी स्पष्टतासे दिये गये हैं।

ईश एक है

ईशोपनिषद्का चौथा मन्त्र है—

अनेजदेकम्मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षद् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

वह ईश एक है, अचल है, मनसे भी अधिक तीव्र गतिवाला है, जहां इन्द्रियां पहुँचती हैं, वहां ईश्वर पहले ही विद्यमान रहता है और वह अचल होता हुआ भी भागनेवालोंसे आगे रहता है। वायु भी उसमें ही मेघोंको धारण करता है। ईश्वर एक है। जिन प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर है, उन्हींसे आवश्यक रूपसे यह भी सिद्ध होता है कि ईश्वर एक है। पहले अन्तरात्मामें 'अनुभूति' पर ही विचार कीजिये। मनुष्य यह अनुभव करता है कि संसारमें कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जो उसे बनाती, नष्ट करती और संचालन करती है। उसका नाम आप चाहे कुछ रख दें× उसे ईश्वर पुकारें या प्रकृति; गाड कहें या नेचर, उसकी सत्ताका अनुभव प्रत्येक मनुष्य करता है। इस अनुभवका यह भी एक भाग है कि मनुष्य उस शक्तिको अन्य सबसे बडी अद्वितीय मानता है। यदि दो बराबरकी शक्तियां हों, तो दोनों एक दूसरेसे कट जायंगी ❀ वे सर्वशक्तिसम्पन्न न रह सकेंगी। ईश्वरकी एकता, मूलरूपमें, ईश्वर विश्वासमें ही सन्निहित है।

हमारी इस स्थापनाके खण्डनमें बहुदेवतावादको प्रमाण-रूपमें उपस्थित किया जा सकता है। यह प्रश्न हो सकता है कि जब मनुष्यजातिके कुछ समुदाय अनेक देवताओंकी सत्ताको स्वीकार करते रहे हैं, और अब भी स्वीकार करते हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वरकी एकता सर्वसम्मत है? इस प्रश्नका उत्तर बहुत स्पष्ट और सरल है। बहुदेवतावादमें भी किसी एक देवताकी प्रधानता सुनिश्चित मानी जाती है। अनेक देवताओंकी सत्तामें विश्वास करनेवाला प्रत्येक हिन्दू किसी न किसी एक देवताको सर्वोपरि मानता है। वह देवता शिव हो, विष्णु हो, ब्रह्मा हो या शक्ति हो। वह जिसे सर्वोपरि देवता मानता है वही ईश्वर है, क्योंकि उसकी शक्ति सबसे बडी हुई और सबका संचालन करनेवाली है।

अन्य बहुदेवतावादी देशोंकी भी यही दशा है। पुराने मिसरमें बहुतसे देवीदेवता माने और पूजे जाते थे, परन्तु उनमें मुख्य स्थान 'का' का समझा जाता था। अन्य देवता चाहे कुछ चाहें, चलती 'का' की ही थी। वही उनका ईश्वर था। इसी प्रकार बैबोलोनियामें 'डिम्मेरा' असीरियामें 'असूर' इजराईलमें 'जहोवा' चीनमें 'टाईन' बौद्धोंमें 'बुद्ध' यूनानियोंमें 'जयूस' स्लावदेशोंमें 'परम' और इसी प्रकार अन्यत्र भी सभी देशों और जातियोंसे किसी न किसी एक सर्वप्रधान शक्तिपर विश्वास किया जाता था। बहुदेवतावाद अन्तमें एकेश्वरवादमें ही समाप्त होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिके लिये कोई न कोई एक देवता अन्य सबसे ऊंचा और प्रमुख होता है। समान शक्ति-वाले अनेक देवताओंमें विश्वास अस्वाभाविक होनेके कारण अपवाद हो सकता है नियम नहीं।

× सरलता और निरभिमानतासे मनुष्यके गुण चमका करते हैं।

❀ महापुरुष सचाईको अपने जीवनमें सम्मिलित कर लेते हैं और साधारण जन उस पर प्रसन्न होकर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

रोग और आरोग्यकी स्थितिमें—

मालिशकी महती उपयोगिता

(लेखक— श्री. डा. हरिकृष्णदास एम. ए., आयुर्वेदभिषग्वर)

मालिश मानवकी शरीर-सम्पत्तिको सुरक्षित और आरोग्यको स्थिर रखने तथा गतारोग्यको पुनः प्राप्त करनेका एक विधान है। नियमित मालिश द्वारा चिरन्तन स्वास्थ्य, दीर्घजीवन, सम्पूर्ण सौन्दर्य और अनुपम मानसिक बलकी उपलब्धि होती है। मालिश एक प्रकारका चेतनाहीन व्यायाम है। कठोर अर्थात् सक्रिय व्यायाम सब लोग कर नहीं सकते। इस प्रकारके व्यायामसे हृदय, ज्ञानतन्तु और स्नायविक व्यवस्थापर एक प्रकारका बोझ पड़ता है। मनको इस प्रकारके व्यायामके लिए तैयार करना पड़ता है। वृद्ध, निर्बल और बीमार व्यक्तिके लिये कठोर व्यायाम निरर्थक ही नहीं, अपितु हानिप्रद भी है। मालिशके व्यायामका प्रभाव कठोर व्यायामकी अपेक्षा भिन्न होता है। ज्ञानतन्तुओंपर दबाव डाले बिना और हृदयकी धड़कनोंको बढ़ाये बिना शरीरमें निरर्थक गरमी या प्रस्वेद उत्पन्न किए बिना मालिश शरीरके व्यायाम करनेके सभी लाभोंसे पुरस्कृत करती है। प्रयोग-परीक्षणोंसे सिद्ध कर दिया गया है कि मालिशसे शरीरमें श्वेतकण, लालकण और हेमोग्लोबिन तत्त्वका संवर्धन होता है, रक्तशुद्धि तीव्रगतिसे होती है, फलतः शरीरमें रोग-प्रतिरोधक शक्तिका संचय होता है। शरीरकी रक्तसंचालन-प्रक्रिया संयोजित होनेसे विजातीय पदार्थों (संचितमल) का निष्कासन सरलतासे होता रहता है। विजातीय पदार्थ-निष्कासन-कार्यतत्पर अवयव— फेफड़े, चर्म, मूत्रपिण्ड और आन्त्रिक जालका स्वास्थ्य सुधरता है। मालिशसे शरीरके अङ्ग प्रत्यंग, मांसपेशियां सुदृढ और शक्तिशाली बन जाती हैं। शरीर सुसंगठित, सुडौल और दर्शनीय बनता है। मालिश सौन्दर्यवर्धक है। मालिश करनेवालेका शरीर कान्तिमय, सुन्दर और आकर्षक बन जाता है। मालिश पाचनव्यवस्थाके लिये अत्यन्त लाभदायक है। सभी पचनअंगों— जैसे कि आंतें, यकृत, आमाशय आदिको एक प्रकारकी गति और शक्ति मिलनेसे उनकी कार्यक्षमता और उनके आरोग्यमें अभिवृद्धि होती है। मालिशसे त्वचाकी सिकुड़न और फटन दूर होती है और वह कोमल, चिकनी, तेजस्वी और मनोहर बनती है।

मालिशका इतिहास

भारतीय भाषामें मालिश शब्दकी उत्पत्ति 'मसाज' शब्दसे हुई है। 'मसाज' शब्द ग्रीक भाषाका है, जिसका अर्थ है 'दबाना'। ग्रीक लोग मालिशकी कलामें अत्यन्त पटु थे। रोमनोंने ग्रीकसंस्कृति और समृद्धिका विशाल उत्तराधिकार हस्तगत कर लिया है। रोमन लोगोंके लिये मालिश आमोदप्रमोदका साधन थी। अतिशय उड़ाऊ खाऊ मनोवृत्ति और उन्मत्त आवेशका प्रभाव मिटानेके लिये रोमन लोग मालिश कराते थे। रोमनोंकी वैभववृत्ति रोमन साम्राज्य विस्तारके साथ-साथ समग्र युरोपमें फैल गई। मालिशका विज्ञान ग्रीससे भी पहले भारतमें विकसित हुआ था। मिश्र और भारतमें धर्माचार्यगण व्याधिग्रस्त अंगको दबाकर या थपथपाकर स्वस्थ बना देते थे। वेदकालसे आर्य इस कलामें पूर्णतया निपुण थे। आयुर्वेदने मालिश (तैलाभ्यंग) को चिकित्साक्षेत्रमें स्थान दिया है। आयुर्वेदमें लकवा, ज्ञानतन्तुके रोग इत्यादि रोगोंमें शास्त्रीय तेलोंद्वारा मालिशक्रियाका समावेश किया गया है। मलबारमें आज भी आयुर्वेदोक्त पद्धतिके अनुसार संचालित मालिशगृह भारतीय मालिशपद्धतिके विकासका दर्शन कराते हैं। गुजरातमें मालिशका प्रचार बहुत कम है। मद्रास, बङ्गाल और उत्तरप्रदेश आदि प्रान्तोंमें आबालवृद्धको मालिशका शौक है। इन प्रान्तोंके लोगोंकी त्वचा चमकीली और तेजस्वी होती है।

कहां ? कब ? और कैसे ?

अतिशय गरम या शीतल कमरेमें मालिश न करनी चाहिये। अति गरम कमरेमें मालिश करनेसे पसीना, आता है। पसीनेका पानी मालिशके आनन्दको मार देता

है। शीतल या जहां हवाके झोंके आते हों, ऐसा कमरा शरीरको बारंबार शीतल कर रक्तसंचालन क्रियामें बाधा डालता रहता है। स्वच्छ कमरेमें चटाईपर बैठकर मालिश करना चाहिये। सूर्यकी कोमल किरणोंमें मालिश करने अथवा मालिशके बाद सूर्यकी कोमल किरणोंमें बैठनेसे स्वास्थ्य सुधरता है। मालिशका अच्छा समय सुबह या शामका है। बहुतेरे लोग रातमें मालिश करके सो जाते हैं, यह पद्धति अच्छी नहीं। भोजनके बाद तुरन्त मालिश करनी न चाहिये। मालिश और भोजनके बीच कमसे कम दो घण्टेका अन्तर रखना आवश्यक है। मालिश की पद्धतिका ज्ञान जरूरी है। अधिकांश लोग बलपूर्वक तेल घिसनेकी क्रियाको मालिश समझते हैं। बाजारू लोगोंसे मालिश कराना सचमुच हानिप्रद है। मालिश एक व्यवस्थित विज्ञान है; विकसित चिकित्सापद्धति है और आरोग्य-प्राप्तिकी सुन्दर कला है। शरीरविज्ञानकी अज्ञानता, स्वास्थ्यनियमोंकी अनभिज्ञता और मालिश पद्धतिकी अनुभवहीनता मालिशके लिये सर्वथा अनुपयोगी है। जिस मनुष्यकी मालिश करनी हो, उसे स्वच्छ चद्दरपर लिटा देना चाहिये। दाये या बायें पैरकी उंगलियोंसे मालिश शुरु कर पैरके पंजे, पिंडली, घुटने और जंघाकी ओर मालिश करते हुए क्रमशः आगे बढना चाहिये। संक्षेपमें बालकी विरुद्ध दिशामें हृदयकी ओर मालिशके हाथ घुमाना उचित है। भूलसे भी रक्त भ्रमणकी दिशामें मालिश की न जाये। दोनों पैरोंकी मालिश होजाने पर कमरकी मालिश की जाये और फिर हाथकी मालिश करनी चाहिये। हाथकी मालिश भी उंगलियोंसे शुरु कर कन्धेकी ओर की जाये। तत्पश्चात् पीठ, क्रोड-रज्जु, गर्दन, मुखके स्नायु और छातीकी मालिश करनी चाहिये। सबसे अन्तमें अधिक सावधानी और ध्यानपूर्वक पेटकी मालिश करनी चाहिये। नाभिकी दाहिनी ओर ४—६ अंगुल दूर छोटी और बड़ी आंतका सन्धिस्थान है। इस स्थानसे ऊपर जानेवाली आंतसे मालिश शुरु कर बाईं तरफ हाथ लाकर नीचे लाया जावे अर्थात् नाभिके आसपास गोलाकार दाहिनी ओरसे शुरु कर पेटकी मालिश करनी चाहिये। मालिशके समय पैरके तलुवों और शिरमें अच्छी तरह तेल पचाया जावे।

कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न

(१) मालिश कैसे तेलसे की जाये? सामान्य नियम यह है कि शीतकालमें सरसों, ग्रीष्मऋतुमें नारियल और वर्षा-ऋतुमें तिलके तेलका उपयोग किया जाये। तिलके तेल की मालिश बारहों मास की जा सकती है।

(२) मालिशके पश्चात् स्नान कब करना चाहिये? मालिशके एक—दो घण्टे बाद काली मिट्टी या बेसनसे शरीरका उबटन कर स्नान करना चाहिये।

(३) मालिश किसे न करनी चाहिये? चर्मरोग जैसे खाज-खुजली, सूजन, चट्टे आदि हो जानेपर, लम्बी बीमारी के बाद और उग्र रोगोंमें, मालिश न करनी चाहिये। जिन रोगोंमें आरामकी जरूरत है, उनमें मालिश करना उचित नहीं, क्योंकि यह एक प्रकारका व्यायाम है।

(४) मालिश स्वयं करनी चाहिये या किसीसे करानी चाहिये? स्वयं मालिश करनेसे स्वेच्छानुसार और उत्तम ढगसे मालिश होनेके अतिरिक्त परमोत्तम व्यायाम हाथों, कन्धों, छाती आदि अंगोंको उपलब्ध होता है। निर्बल और विशेष प्रकारके रोगीको अच्छे मालिशकर्तासे मालिश करानी चाहिए। मालिशकर्ता स्वस्थ, स्वच्छ और सुदृढ शरीरका होना चाहिए। चर्म या अन्य किसी रोगसे पीडित मानवसे मालिश न करानी चाहिए और सावधानी रखनी चाहिए कि मालिश करते समय मालिशकर्ताका पसीना रोगीके शरीरपर न गिरे।

(५) मालिश कसरतसे पहले या पश्चात्? मालिश करनेके बाद कसरत या अन्य शारीरिक श्रम करनेसे तेल और पसीना मिलकर चर्मरोग, खुजली, दाद आदि उत्पन्न कर देते है। शरीरमें तेलका समुचित शोषण नहीं हो पाता। व्यायाम या शारीरिक श्रमसे शरीरमें विशेष परिमाणमें तोड फोड होती है। विजातीय पदार्थों जैसे कि लेक्टिक एसिड, यूरिया और अग्निवायुका परिमाण बढ जाता है। थकावट भी बढ जाती है और कार्यक्षमता कम हो जाती है। प्रत्येक अंग जड शुष्क और चेतनाशून्य हो जाते हैं। अतः कसरत करनेके पश्चात् शरीर शीतल और पसीना बन्द हो जानेके बाद शरीरको अच्छी तरह पोंछकर मालिश करना लाभदायक होगा। मालिशसे स्नायु-जाल उत्तम,

सुसंगठित बन जाता है। व्यायामसे कभी कभी स्नायुपर जब अघटित दबाव पड़ता है, तब वे टूट जाते हैं अथवा खिंच जाते हैं। मालिश इन स्नायुओंको सुयोजित कर चमकदार बना देती है।

(६) पाउडर या बिजलीके यन्त्रसे मालिश करना उचित है? मालिश आजकल वैभवकी वस्तु बन बैठी है। विद्युत्-यन्त्रसे की जानेवाली मालिश अप्राकृतिक है और उससे कोई लाभ नहीं। विद्युत्से एक ही प्रकारकी मालिश-कम्पन मालिश सम्भव बनती है। रक्त-संचालन-क्रियाको सतेज बनानेके अतिरिक्त इसका अन्य कोई लाभ न होनेसे यह सर्वथा त्याज्य है। मालिशका मूल उद्देश्य शरीरमें तेलको पचानेका है। कथित सुधरे हुए लोग तेलको पसन्द न कर सुगन्धित पाउडर पसन्द करते हैं। पाउडर हस्तसंचालनकी क्रियाको सरल और व्यवस्थित होने नहीं देता। अतः पाउडर या विद्युत्यन्त्रसे मालिश करनेकी अपेक्षा न करना ही अच्छा है।

रोग और आरोग्यतम

चिकित्साक्षेत्रमें मालिशका महत्त्व समस्त जगत्में बढ़ता जा रहा है। प्राकृतिक चिकित्सामें मालिश पद्धतिका बहुत उपयोग किया जाता है और इसके द्वारा अनेक रोगोंकी चिकित्सा की जाती है। पुराने हठीले रोगोंमें जिस रोगीकी जीवनशक्ति अल्प होती है, ऐसी घटनाओंमें जीर्ण, अशक्त और शारीरिक रूपसे क्षीण रोगियोंके रोगोंकी अचूक चिकित्सा विज्ञानसिद्ध मालिश ही है।

पाचनसम्बन्धी रोग

मानवका पेट शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक विकासका केन्द्रबिन्दु है। मानवने आहारविषयक भूलोंसे पेटको कब्रस्तान बना दिया है। कब्जियत, मन्दाग्नि अपचन आदि रोग आजकल सर्वव्यापक हैं। मालिश आँतोंकी आकुंचन क्रियाको बढ़ाती है। शिथिल और रोगग्रस्त पाचन-क्रियाको तेजवान् बनाकर उदररोगोंको दूर करती है। यकृत आमाशय और प्लीहाकी पीड़ा और रोगमें मालिश उपयोगी है।

ज्ञानतन्तु रोग

दिन प्रतिदिन जीवनसंघर्ष विकट बनता जा रहा है। चिन्ता, व्यग्रता, जातीय उत्तेजना, उत्तेजक प्रधान आहारसे ज्ञानतन्तु रोगी होते जा रहे हैं। अनिद्रा, शिरदर्द, थकावट, मानसिक उत्तेजना तथा मानसिक शिथिलतामें वृद्धि हो रही है। ज्ञानतन्तुके रोगीको पैरके तलुओं, मस्तक तथा कोड-रज्जुकी मालिश करानी चाहिये। यह मालिश बादामके तेलकी होनी चाहिये।

रक्ताभिसरण प्रक्रिया

इस प्रक्रियाके अन्तर्गत हृदयकी निर्बलता, धड़कन और अन्य रोगोंमें मालिश एक अच्छे सेवकका काम करती है। मालिशसे हृदयको पूर्ण-विश्राम मिलता है। रक्ताभिसरणकी अव्यवस्थाके कारण उत्पन्न रोग दूर होते हैं। रक्तका संचालन उचित रूपमें होते रहनेसे अपोषणसे पीड़ित रोगीके लिये मालिश आशीर्वादके समान है। मांसपेशियोंको खुराक मिलती है। वजन बढ़ता है। शरीरकी अनावश्यक चरबीका प्रशमन होता है।

वात-व्याधियाँ

शरीरमें अम्लता बढ़ जानेसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। लकवा इत्यादिको आयुर्वेदमें वातव्याधियोंके अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकारके रोगोंमें आयुर्वेद-प्रणित विषगर्भ तेल या नारायण तेलकी मालिश करनी चाहिये। बाल-लकवेकी घटनायें बढ़ती जा रही हैं। यदि बालकको आरम्भसे उचित रूपसे मालिश की जाये, तो लकवारोग नहीं होता और यदि हो भी जाये, तो लाभ होता है।

मुख-सौन्दर्य

मुखकी त्वचा निस्तेज, फटी हुई या दागवाली हो, तो चाहे जैसा सुव्यवस्थित रेखावाला मुख भी आकर्षक प्रतीत नहीं होता। हमारी गृहदेवियाँ – विशेषतया नागरिक जीवनमें–निष्क्रिय बनती जा रही हैं, अतः शरीरमें चरबी बढ़ती जाती है। गले और ठुड्डीका निम्न भाग लटक पड़ता है। मालिश मुखकी चरबीको बरफकी तरह गलाकर मुखको नवीन आकर्षण, चमक और ताजगी प्रदान करती है। मुखपर मुहाँसे या दाग हों, तो दूधकी मलाई वीमें हाथसे मुखपर मलनेसे जादूका असर होता है। मुखसौन्दर्यके लिए मलाईकी मालिश आजसे ही शुरु कर दें। इसके अतिरिक्त अस्थिभंग शारीरिक विकृति आदिमें मालिशकी परमोपयोगिता अनुभवसिद्ध है।

अन्य लाभ

संक्षेपमें शारीरिक अवयवोंकी कार्यशक्तिके अभाव या स्वयं अवयवगत व्याधिमें मालिश अति लाभदायक है। मालिश शरीरमें चार प्रकारका काम करती है— (१) निर्माण, (२) विनाश (३) उत्तेजना और (४) आरामका काम करती है। नये तन्तु उत्पन्न कर शरीरको पोषण प्रदान करती तथा चयापचयकी क्रियाको बल देती है। शरीरकी अतिरिक्त चरबी विजातीय पदार्थ, टूटे हुए और निरर्थक तन्तुओंको दूर कर शरीरके, संघातिक तत्वोंको नष्ट करती है। मालिश ज्ञानतंतुओंकी उत्तेजनाजन्य शिथिलता, अनिद्रा और शारीरिक निर्बलता दूरकर स्फूर्ति और चेतना प्रदान करती है। मानसिक थकावट मिटाकर शरीरकी पीडा कम कर शरीरके किसी विशेष अवयवमें एकत्र रक्तको वितरित कर मालिश शान्ति और विश्राम देती है। मालिश करते करते कभी कभी नींद आ जाती है।

कुछ महत्वपूर्ण निर्देश

(१) सामान्य और स्थानीय– इस प्रकार मालिशके दो भाग हैं। किसी विशेष अंगकी या रोगग्रस्त अंगकी मालिशको स्थानीय - स्थक, विशेषकी - मालिश कहा जाता है। समस्त शरीरकी मालिश सामान्य कहलाती है। रोगग्रस्त अंग पर २० से ३० और समग्र शरीर पर ४० से ५० मिनट तक मालिश करनी चाहिये। बहुत अधिक समय तक मालिश करना हानिकारक है।

(२) मालिश बहुत जल्दी-जल्दी करनेकी आदत अच्छी नहीं। मालिश करते समय शरीरके सभी अंग ढीले और आरामकी स्थितिमें होने चाहिये। मनको भी स्वस्थ रखना चाहिये। मालिशके समय मनको सभी ओरसे हटाकर उन अंगोंपर केन्द्रित कर आरोग्यका विचार करना चाहिये। जिनकी मालिश की जा रही हो। तेलको शरीरमें बलपूर्वक रगडनेकी अपेक्षा थोडा-थोडा तेल शरीरमें पचानेकी आवश्यकता है।

(३) सभी अंगोंकी समुचित् और समान मालिश करनी चाहिये। एक अंग पर विशेष ध्यान देकर दूसरेकी अपेक्षा करनी न चाहिये। यह नियम समग्र शरीरकी मालिशके लिए है। आरोग्यकांक्षियोंको चाहिये कि वे ८-१० दिनमें मालिश किया करें। रोगोपचारके लिये नित्य और आवश्यक होनेपर दिनमें दो बार भी मालिश करनी चाहिये। +

ॐ

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीपश्चिमाम्नाय श्रीअनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरुश्रीशंकराचार्य
श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर श्रीमदभिनवसच्चिदानन्दतीर्थस्वामि श्रीचरणानां—

गुर्जर-प्रान्तीय-संस्कृत-सम्मेलनस्य

सभापत्यमलंकुर्वतां शुभाभिभाषणसारः, चण्डीपुरम् ।

सं. २०१२ कार्तिकिशुक्लैकादश्याम् ।

श्रीद्वारकाधीशो विजयतेतराम् ।

तारानायकशेखराय जगदाधाराय धाराधर-
च्छायाधारक-कन्धराय गिरिजासङ्गैकशृंगारिणे ।
नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिने नारायणेनास्त्रिणे
नागैः कंकणिने नगेशगृहिणे नाथाय सेयं नतिः ॥१॥

तनीयांसं पांसुं तव चरणपंकेरुहभवं
विरिंचिस्सञ्चिन्वन् विरचयति लोकानविकलम् ।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां
हरस्संक्षुद्यैनं वहति भसितोद्धूलनविधिम् ॥२॥

अनन्तसंसारसमुद्रतारनौकायिताभ्यां स्थिरभक्तिदाभ्याम् । जाड्याब्धिसंशोषणवाडवाभ्यां नमोनमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥३॥

अयि सुरसरस्वतीप्रणयिनः सज्जनाः !

मोमुदीति किल नश्चेतोऽतरामेवेदमवलोकमानानां यत् भगवतः कृपया जगत्पावन्याः पुण्यतोयायाः सोमोद्भवाया रेवायाः पवित्रतटेऽस्मिन् प्रथिते चण्डीपुरक्षेत्रे गुर्जरप्रांतीय संस्कृतभाषाप्रचारसम्मेलनमिदं बोभवीति, तथा तदर्थमथात्र गुर्जरप्रान्तात्सर्वतः गीर्वाणवाणीप्रेम्णा समागत्य पण्डिता विद्वांसो नेतारो जनाश्च संमिलन्तीति ।

अत्रोपस्थिता भवन्तः देवभारतीरसास्वादचतुराः प्रकाण्डपाण्डित्यमंडिता एवेति नास्मिन् सदसि भारतस्य सर्वसमृद्धायास्संस्कृतभाषायाश्च महिम्नः इतिहासस्य साहित्यस्य च विस्तृतं वर्णनं प्रस्तोतुमावश्यकतां बिभर्तीति सक्षेपतोऽत्र प्रकृतपरिस्थिति-कर्तव्यतादि-विषये किंचिदिव निरूप्यते ।

भारतस्य श्रैष्ठ्यम् ।

भारतस्यास्य वर्षस्य माहात्म्यं किमिव वर्णयामः यतो भारतवर्षमेतत् सर्वदा देवैरपि स्वावताराय भृशं काम्यते । यथा—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां
स्विदुत स्वयं हरिः । यैर्जन्मलब्धं नृषु भारता-
जिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥

इति बहुधा पुराणेषु गीयते ।

यदि कोऽपि परप्रत्ययनेयबुद्धिरिदं निगदेत् यत्- "सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यतीति" न्यायेन वर्णनमेतत् सर्वमस्माकमेव पौराणिकानां ऋषिमुनीनां स्वप्रशंसात्मकम् । परदेशीयाः संश्लाघामातन्वते चेत्तत् श्रद्धेयम्-इति । तस्योत्तरं श्रूयताम्-पाश्चात्या अपि विद्वांसो भारतगौरवं मुक्तकण्ठेन श्लाघन्ते । तत्रैकमुदाहरणमिदं यत् विक्टोरिया यूनिवार्सिटी प्रोफेसर हेनरी ड्रूमेण्डमहो दयस्वीयगणितशास्त्रग्रन्थोपोद्घाते व्यलेखीदिदं भारतस्य श्रैष्ठ्यं किं वर्णयामः । भारतदेशोऽयं ज्ञानसंस्कृति-भण्डागारोऽस्ति । ज्ञानप्रकाशो भारतादेव पश्चिमदेशं जगाम । तत्रेयं युक्तिरस्ति । यत् सूर्यादिग्रहास्तावत् पूर्वस्यादिशि उद्यन्ति, पश्चिमदिशि अस्तं यन्ति । तेन प्रतीयते ज्ञानप्रकाशोऽपि पूर्वस्मिन् भारतदेशे स्थितः पश्चिमं जगामेति । पश्चिमदेशे विज्ञानं प्रज्ञानं यद् दरीदृश्यते विशेषतस्तत् सर्वं भारतादेव गतमिति ज्ञायते ग्रहगतिदर्शनेनेति ।

सूर्यादि नवग्रहेषु अन्तिमौ द्वौ राहुकेतू पश्चिमदिशः पूर्वमागच्छतः, अतो नेदमुदाहरणं युज्यत इति चेदत्रोच्यते। समीचीनमेवैतत्। राहुकेतू न स्वप्रकाशग्रहौ, परप्रकाश्यावपि नहि। अपि तु तमोग्रहौ। अतः तौ पाश्चिमादिशः पूर्वां दिशं आयात इत्युक्तौ इदमेव स्पष्टीभवति यत् भारतादि पूर्वदेशेषु अधुना तमः, अज्ञानं, अन्धःकारो दृश्यते, तत्सर्वं पश्चिमदेशादागच्छतीति।

किञ्च ग्रहसिद्धान्तानुसारेणेदं समीचीनं, परन्तु भूभ्रमणसिद्धान्ते कथमिति चेदुच्यते। भूमिः पश्चिमाद्पूर्वमागच्छति–अर्थात् पूर्वप्रदेशे प्रकाशस्तिष्ठति प्रकाशार्थं पश्चिमात् पूर्वमायाति भूमिरिति ज्ञानप्रकाशभण्डार गुरुरूपं भारत शिष्यत्वेनोपसपन्ति पाश्चात्या इत्येतदपि उचिततरमेवेति सः प्रोफेसर महोदयः साधीयसा प्रकारेण भारतं ज्ञानसंस्कृतिभण्डारं साधयामासेति सर्वथा भारतस्य श्रैष्ठ्य सर्वत्रो जेगीयते।

भारतस्य धर्मप्रधानत्वम्।

विदितचरमेवैतत्सर्वेषां विपश्चितां यदिदं भारतं वर्षं अनादिकालतः एव धर्मप्राणतयाप्रथतेतराम्। अमेरिकायूरोपादिदेशा विज्ञानवाणिज्यादि प्रधानतया प्रथन्ते चेत्, अयं भारतदेशस्तावत् धर्मप्रधानत्वेन जेगीयते पूर्वत एव। एतदेवास्माकं गौरवं प्रतिष्ठा च। धर्मस्य चास्य सनातनस्य महिमा वर्णयते उपनिषत्सु "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठ प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदंति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति" इति। महाभारते च निगद्यते यत्—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

वैशेषिकसूत्रेषु धर्मस्यास्य लक्षणं समभिधीयते स्म यत् "यतोऽभ्युदयनिश्रेयस-सिद्धिस्सधर्मः" इति अत एव भगवान् वेदव्यास महर्षिराह स्म यत्—

"उर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥" इति

न केवलमन्नवस्त्रादि प्राप्त्यैव मनुष्यस्य मनुष्यत्वं भवति। इतर प्राणिवत् ऐहिकविषयभोगेष्वेव यदि रमते मानवस्तर्हि तस्य जन्म पशुतोऽपि निकृष्टं भवेत्। अतो मनुष्यस्य प्रधानं लक्षण धर्माचरणम्। तत्प्रत्येकेन मानवेन प्राप्तव्यं स्यात्, तदैव मनुष्यत्वं सिद्ध्येत्।

संस्कृतभाषाभिवृद्धिकामना।

अस्य सनातनधर्मस्य मूलं संस्कृतभाषास्ति। संस्कृतभाषा तावत्सर्वेषां भारतीयानां धर्मभाषा एव मूल-मातृभाषास्ति। धर्मग्रन्थाः सर्वे संस्कृतमयाः, अतः संस्कृतभाषाया अभिवृद्धिर्भवेच्चेत् धर्माभिवृद्धिरपि भवतीति धर्माभिवृद्धिमभिकांक्षद्भिरपि सर्वथा संस्कृतभाषायाः प्रचारस्याभिवृद्धये च यत्न आस्थेयो भवति। न केवलं धर्मस्य, अपि तु संस्कृतेश्च समभिवृद्धये संस्कृतभाषायाः प्रसारस्सुतरामावश्यकः।

संस्कृतं--राष्ट्रभाषा।

प्राचीने समये संस्कृतं राष्ट्रभाषैवासीत्, तथाधुनापि सा राष्ट्रभाषा भवेदिति आस्माकीना कामना विद्यते। राष्ट्रभाषा भवितुं आवश्यकास्सर्वेऽपि गुणास्संस्कृतभाषायां वर्तन्ते। सम्प्रति संस्कृतज्ञातारः अल्पा एवातः कथं सा राष्ट्रभाषा भवेत् इति शंका चेत् प्रत्युच्यते–आंग्लराज्यावसरे आंग्लभाषा राष्ट्रभाषात्वेन यदा तैर्घोषिता आसीत्, तदा तस्या ज्ञातारः कति आसन्? अर्थाद् राज्याश्रये सम्प्राप्ते कथं नु नाम राष्ट्रभाषात्वं न सिद्ध्येत्? पूर्वमपि सदा संस्कृतमेव व्यवहारभाषासीदिति नाविदितमेव तद्विदुषाम्। दमयन्ती स्वयंवरे सम्मिलिता विभिन्नदेशीया राजानः परस्परं संभाषणं संस्कृतेनैव प्राकुर्वन् इति "अन्योन्यभाषानवबोधहेतोः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु" नैषधीयचरिते वर्ण्यमानमत्र प्रमाणं भवितुमर्हति। अतोऽधुनापि राष्ट्रभाषा भवेच्चेत् भारतस्य गौरव नूनमभिवर्धेतेत्यत्र नास्ति मनागपि लेशावसरः। पूर्वस्मिन् समये सर्वत्र भारते ज्ञानशिक्षाप्रचारार्थं सेयमेव भाषा प्रवतते स्म। अत एव मनुवचनं प्रथते स्म यत्—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥" इति

भारतीयाः सर्वा अपि भाषास्संस्कृतादेव समुद्भूतास्सन्तीति निश्प्रचम्। तेन संस्कृतस्य प्रभावो न केवलं भारतोपरि, अपितु तिबेत, चीन, जापान, कोरिया, लंका, मलया, अफगानीस्तानादिष्वपि दूरदूरतरेषु देशेषु वर्तमानोऽस्ति।

सम्प्रति आंग्लभाषासाम्राज्यं गृहे गृहे समवलोक्यते किल। किन्तु पूर्वस्मिन् काले संस्कृतभाषायाः प्रभुता ततोऽपि समधिकतरा भारतेऽस्मिन् विद्यतेस्मेति इतिहासतोऽवगम्यते।

कतिपयानां भावनास्ति यत्संस्कृतं कठिनमिति। परन्तु सा

भावना अपरिचयकारणेन संभूता स्यात्। वस्तुतस्तु व्याकरणनियमा विज्ञाताश्चेत् संस्कृतं अतितरामेव ज्ञातुं सुलभमिति स्वयमेव विज्ञायते तदभ्यासिनाम्।

जीवनं संस्कृतमयम्।

भारतीयस्य जीवनं सर्वं संस्कृतमयमेवास्ति। विना संस्कृतं तस्य जीवनमेव नहि। जन्मनस्समारभ्य मृत्युपर्यन्तं विधीयमानास्सर्वेऽपि संस्कारा: संस्कृतद्वारैव सम्पद्यन्ते। मनीषिणः पुरुषाः राष्ट्रियसंस्काराणां महत्वं सर्वथा मानयन्ति। प्रत्येकधर्मे प्रत्येकसमाजे च संस्काराणां महत्त्वमभ्युपगतं वर्तते। भारतीये धर्मे तु संस्काराणां महत्त्वमतितरां सम्मान्यते।

पूर्वस्मिन् समये तु भारतीया नेतारः संस्कृतभाषामात्मनो राष्ट्रियसत्ताऽस्थिरीकरणाय प्रधानं साधनं मन्यन्ते स्म।

आङ्ग्लानां कुटिला नीतिः।

संस्कृतभाषाया महिमा, युगयुगान्तरेभ्यः प्रकाशन्तं राष्ट्रियताया गौरवं अंग्रेजसदृशानां धूर्तमतीनां आक्रमणकारिणां दृष्टावपि समायास्ताम्। अत एव ते भारतमागत्य सर्वप्रथमं संस्कृतस्य महिमानं गौरवं च विनाशयितुं स्वार्थं जालं प्रसारयन् समन्तात्। अस्माकं राष्ट्रभाषाया उपरि आंग्लभाषां राष्ट्रभाषारूपेण समस्थापयन्, तथा संस्कृतभाषाया यद् यद् स्थानमासीत् तद् तद् समन्विष्य सर्वं आंग्लभाषायै समर्पयन्। सर्वत्राङ्ग्लशाला: स्थापयामासुः, प्रचारश्च समारब्धस्तैः बृहदाकारेण भूयसा रूपेण च यत् "आंग्लभाषानभिज्ञो मूढ एवेति"। "संस्कृतभाषा मृतभाषेति च"। "आंग्लभाषाभिज्ञ एव राजकार्येष्वर्हस्तथाधिकृतो भवति नान्यथे" ति च। हन्त कुटिल तन्त्रं आङ्ग्लानामिदं प्रायः साफल्यमविन्दत। तेन भारतस्य वातावरणमेव कलुषीकृतं बभूव, सर्वं विपर्यस्तमभूत्। भारतीया अपि शनैः शनैस्तज्जालनिपतिताः। तदा नु किं नु कथनीयम्। अस्मदीया एव तथाकथितशिक्षापदवीविभूषिताः आंग्लानुयायिनस्सम्पूर्णरूपेण समभवन्। सर्वथा तेन संस्कृतस्योपेक्षा समपद्यत।

"या विद्या सा विमुक्तये" इत्यादि श्रुतिवचनानुसारेण सर्वबंधविमुक्तिफलां प्राचीनशिक्षापद्धतिं समुन्मूल्य तत्स्थाने केवलमुदरपरिपोषणमात्रप्रयोजना अध्यात्मदृष्टिदूरा भौतिकजडवादपरा अर्वाचीना शिक्षापद्धतिराङ्ग्लशासकैर्बलात्संस्थापिता, तेनैव कारणेन भारतस्य वास्तविकं पतनं बभूवेति मर्मविदो विपश्चितो जानन्त्येव। इत्थं म्लेच्छानामाक्रमणेन राज्याश्रये विनष्टे सति संस्कृतभाषाया एव ह्रासोऽभूत्। सा ग्लानिरधुनाप्यनुभूयते।

विद्वद्दुर्दशा।

संस्कृतभाषाया अवनत्या संस्कृतविदुषाञ्च दुर्दशा महती समनुभूयते। पूर्वं संस्कृतविदुषां स्थानं अत्युच्चतरं सर्वोपरि तिष्ठति स्म। गौरवं चानतिसाधारणं वरीवर्ति स्म। आंग्लशिक्षाक्रमावतारेण विदुषामेषां स्थितिः शोचनीया समपद्यत, प्रतिष्ठा गौरवं तु सुदूरे, जीविकाप्रश्नोऽपि विकटः समुपस्थितोऽभूत्।

स्वराज्यमधिगतम्।

अधुना तावत् भारतेन स्वातंत्र्यमवाप्तम्। संविधानेन स्वीकृतासु भाषासु संस्कृतमप्येकं बभूव। नेतारश्च भारतीयसंस्कृतिः, भारतीयभाषा, संस्कृतभाषाणां च विषये तदा तदा प्रशंसावचनानि वितन्वते, परन्तु तत्सर्वं ग्रन्थे वचनमात्रे वा तिष्ठति, न कार्ये परिणमतः इति खेदस्थानमेतत्। यावदुच्यते तावतः कस्याप्यंशस्य वा यदि कार्यरूपेण समवतारः स्यात्तर्हि भृशमुपकारः स्याद् देशस्य। सभासु भाषणे संस्कृतेः संस्कृतस्य च प्रशंसा श्रूयते या, सा सर्वथा श्रोत्रमात्ररमणीया मा भूदिति प्रजाजनानामाकांक्षा बलीयसी वर्तते। यदा हिन्दीभाषाया राष्ट्रभाषात्वमद्य काम्यते प्रयत्यते च, तदा सर्वथा संस्कृतभाषाप्रचारार्थं समवधातव्यमेव। संस्कृतं विना हिन्दी न समर्था भवितुं प्रभवेत् इति निश्चयः। अनेन वा कारणेन शासकैर्नेतृभिश्च ध्यानं देयम्।

संस्कृतोद्धारयत्नः।

भारते म्लेच्छानामाक्रमणेन राज्ञामाश्रये त्रुटिते संभूताया भूयस्या संस्कृतग्लानेः विभिन्नाः प्रयत्नाः अनुष्ठीयमाना विलोक्यन्ते अनेकाः सभासमितयः कार्यमादधानाः सन्ति। मद्रास आन्ध्रादि कतिपयविश्वविद्यालयेषु ओरियण्टकफेकल्टीति विभागद्वारा संस्कृतपरीक्षा संचाल्यते। मैसुरादिषु राज्यनियन्त्रिता समितिरेतत्परीक्षाकार्यं चालयति। उत्तरप्रदेश-बिहार-बङ्गालेषु काशीराजकीय संस्कृतकालेज-बिहारसंस्कृतएसोसीएशन-बेंगालसंस्कृतएसोसीएशन संस्थाः परीक्षां संचालयन्ति। इत्थं भारते कतिपयेषु वा राज्येषु संस्कृतपरीक्षा कार्यमेकं वा भवति।

मुंबईप्रान्ते दुर्दशा

पश्यामो वयं प्रायः इयदा प्रान्तान्तरेषु संस्कृतकार्यं,

मुंबई प्रान्ते तु शासकास्सर्वथा सर्वप्रकारेण संस्कृतविषये उदासीना एवेति क्षोभावसरोऽयम्। अत एव गुर्जरदेशे सर्वदेशापेक्षया संस्कृतप्रचाराभावः दृष्टिपथमवगाहते। मुंबई राज्यस्य ईदृक्षौदासीनस्य कारणं प्रजापि भवितुमर्हति। यदि प्रजा स्वीयजीवनस्य प्रतिष्ठां गौरवं वा समभिजानाति तर्हि तदर्थं तत्कारणीभूतसंस्कृतभाषायै आग्रहं निदधाति स्म, विदधाति स्म च, प्रजाया आग्रहे राज्यं किमपि करोति स्म। इत्थं उभयस्याप्यौदासीन्यवशात् अस्मिन् प्रान्ते सर्वापेक्षया संस्कृतोपेक्षामाकलयामः। केरल, मलबार, मद्रास, मैसुर, उत्तरप्रदेशादिषु सम्प्रत्यपि संस्कृतप्रचारो भूयानस्ति। मुंबईप्रान्तस्य दशामेनां विचिन्त्य तत्परिहाराय कृतप्रयत्नासु संस्थासु गुजरातप्रदेशे श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-महोदयसंचालिता संस्कृतप्रचारसमितिः अमदावादस्थ गुजरातसंस्कृत एसोसीएशन, जामनगरस्थ सौराष्ट्रविद्वद्परिषद्– संस्कृतपरीक्षाकार्यं संचालयन्त्यः प्रामुख्यं भजन्ते इति प्रमोदस्थानमेतत्।

यदा शासका एतद् विषये सर्वथा उदासते तदा एतादृशसंस्थाद्वारा इयदा कार्यं भवतीति सन्तोष्टव्यमेव, परन्तु इयता इष्टसिद्धिर्न भवति। आचार्यादि परीक्षार्थं तु काश्यादिपरप्रान्तमेवाधुना समाश्रणीयं भवति। प्रायो जना राज्यद्वारा संचाल्यमानामेव परीक्षां कामयन्ते येनाग्रे जीविकोपलब्धिस्स्यादिति। ईदृश्यां स्थितौ शासका यदि काममप्यत्र व्यवस्थां यावन्नविदधते, तावत् हीनदीनदशा तिष्ठेदेव।

अतः संस्कृतभाषाप्रचाराद्यर्थं मुम्बईराज्यस्य ध्यानं समाकर्षणीयम्। प्रजातंत्रत्वेन कथ्यमाने राष्ट्रे प्रजायाः कण्ठरवः स्वीयजीवनसिद्धिमभिलक्ष्य वा बहिः स्पष्टं अभिव्यक्तव्यः। यावन्तं यत्नमाचरेत्प्रजा तावत् फलं भोक्तुं प्रभवेत्। अतः संघटितयत्नाचरणं नूनमावश्यकम्। " संघे शक्तिः कलौ युगे " संघीभूय यत्नः आस्थेयः, तथा सति साफल्यं सम्प्राप्स्यते, अस्मिन् विषये अर्थात् मानवजीवनसिद्धिविषये या प्रसुप्तावस्थितिर्महागुजरातप्रान्ते विद्यते सा सर्वथा दूरत एव परिहर्तव्या।

विश्वविद्यालयः।

धर्मप्राणे भारते वर्षे मूलत एव आदित एव संस्कृतभाषा प्रधानभाषासीत्। तदर्थं तत्प्रचारार्थं तत्प्रसारार्थं सर्वत्र पूर्वकाले कण्वादिकुलपतीनां महान्तः आश्रमास्तिष्ठन्ति स्म। यत्र वा किं दशसहस्रसंख्याकाः छात्राः निवसन्ति स्म, अधियन्ति स्म। तदा त एव ते विश्वविद्यालया आसन्, यत्र षडङ्गसहिता वेदा षट् शास्त्राणि आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेदादयो विद्याः सर्वा अध्याप्यन्ते स्म। मध्यकालेऽपि तक्षशिला, नालन्दा वल्लभीपुरादि विश्वविद्यापीठविशेषाः भारते सर्वत्र विराजन्ते स्म। नानादेशेभ्यः विद्यार्थिनः समागत्य तत्र विद्याध्ययनं कुर्वन्ति स्म, तथा अधीत्य भारतीय ज्ञानवैभवं स्वस्वदेशेषु प्रचारयन्ति स्म।

अंग्रेज्यादिभाषाणां कृते तु भारतेऽधुना विंशत्यधिका विश्वविद्यालयास्सन्ति, पुनरपि तत्र तत्र तत्स्थापनाय यत्न आस्थीयते च। परं संस्कृतभाषायाः कृते नैतावत्पर्यन्तं कोऽपि तादृशविश्वविद्यालयः स्थापितः कुत्रापि। अस्माभिस्तादृशविद्यापीठमेकं स्थापयितुं कतिपयवर्षेभ्यः प्राक् जनतायै आदेशः प्रदत्तः आसीत्। परं समयस्य प्रातिकूल्येन तादृशः शुभावसरो न सम्प्राप्तः। इति खेदावहमेतत्।

आनन्दविषयोयमधुना श्रूयते यदुत्तरप्रदेशराज्यं तावत् प्रजाया आग्रहेण स्वेन प्रेम्णा वा तत्र संस्कृतविश्वविद्यालय स्थापनं विधित्सति। काशीस्थ राजकीय संस्कृतविश्वविद्यालय एव संस्कृतविश्वविद्यालयरूपेण परिणमेत्। तत्स्थापनाय पंचाशत् लक्षमितो धनराशिः राज्येन स्थापितोऽस्ति। १९५६ जुलाई मासमारभ्य विश्वविद्यालयीन कार्यमारभते। उत्तरप्रदेशीयविधानसभायां आगाम्यधिवेशने राज्यमन्त्रशासनं कुर्यादिति।

इदं च महाकार्यं श्रीमाननीयसंपूर्णानन्दमहोदयेन विधीयते। यदायं महाभागः उत्तरप्रदेशस्य विद्यामन्त्रीपदमधिष्ठित आसीत् तदैव समालोचितमासीदिदं कार्यम्। सम्प्रतिमहाप्रधानपदमागतेनैव तेन सर्वतः प्रथममिदमेवोद्घोषितं यत् संस्कृतविश्वविद्यालयः स्थाप्यते इति।

अन्यच्चेदं समभिनन्दनार्हं कार्यमेतेन विहितं, यत् बहुना कालेन गोवधनिरोधसत्याग्रहान्दोलने श्रीकरपात्रिमहाराजैः कृते प्रजाया अभिप्रायमेनमविचिन्त्य गोवधनिरोधशासनमधुनैव स्वीकृतमासीत्।

सर्वथा श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदयः कार्यमिदं चकारेति समभिनन्दनीय एव। उत्तरप्रदेशीयं कार्यमिदं यद्यन्यानि अपि राज्यानि अनुकुर्युस्तर्हि भारतस्य भाग्यमेवेति कथनीयं भवेत्।

इदं चैकं प्रमोदस्थानं यद् गत द्वात्रिंशद् वर्षेभ्यः अखिलभारतीय संस्कृतसाहित्य सम्मेलनं यत्नं कुर्वद् विभिन्नधर्माचार्याणाम् धार्मिकाणां लौकिकानां च नेतृणां सहयोगमव-

लब्ध्य सम्प्रति भारतीय राजधान्यां देहाल्यां एकं संस्कृत-विश्वविद्यालयं स्थापयितुमीहत इति । आधुनिकनेतृवर्गे संस्कृतप्रेमिणां श्रीचिंतामणि देशमुख, श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन, श्रीगाडगीलप्रभृतीनां महाशयानां सफलकरावलम्बनेन यतत इति सम्मेलनस्यास्य बद्धतमेयमिच्छा फलीभवेदिति विश्वसिम ।

श्रीमाननीय श्रीकनैयालाल मा० मुनशीमहोदयस्य साहित्यप्रेम सर्वे विदन्त्येव । तदीय यत्नविशेषेण विश्वसंस्कृत परिषद् संस्थापिता वर्षत्रयेण कार्यमातनुते, संश्रूयते यत् कश्चिद् धनी श्रीमुनशीमहोदयाय विश्वविद्यापीठस्थापनाय कतिपयलक्षरूप्यकाणि प्रादादिति, नेनानुमीयते यत्तृतीयमपि विद्यापीठं भवेदिति ।

भूवैकुण्ठेति प्रथिततरे तिरुपतिक्षेत्रे (बालाजीक्षेत्रे) प्राच्यविद्यालयो यः प्रचलति, तस्य विश्वविद्यापीठत्वेन करणायापि प्रयत्नो भवतीति श्रूयते ।

इत्थं भारते संस्कृतभाषार्थं विश्वविद्यापीठाभिवृद्धिश्चेत् तदा भारतस्य भारत्याश्च नूनं गौरवाभिवृद्धिर्भवेत् ।

संस्कृतशिक्षायां केन्द्रशासकानां यत्नः।

वृत्तपत्रिकातोऽवगम्यते यत् भारतराजकीय शिक्षामंत्र्यालयाश्रये दिनद्वयं संस्कृतशिक्षाध्यापकानां सम्मेलनं बभूव देहल्याम् । तत्रायं निर्णयो व्यवधायि यत् संस्कृतशिक्षाप्रश्नानामुपरि भारतराज्याय परामर्शदानार्थं एका अखिल-भारतीय-शिक्षासमितिः स्थापिताऽस्तु, सा च समितिः विशेषतः निर्णयमेनं विदधातु यत् विभिन्नप्रणालिकानामुपरि संस्कृतस्य शिक्षा किंविधादातुमुचिता, तथा पाठ्यपुस्तकशिक्षा अनुसंधानसंस्था प्रभृतिषु कीदृशः समन्वयः स्थापितः स्यात् सहैवेयं समितिः परीक्षाणां प्रतिमानीकरणं च निर्णयत्विति ।

प्रमोदस्थानमेतत् यत् भारतशासकाः ईदृक्षविषयेष्वपि रुचिमधुना बिभर्तीति, परमित्थं समितिसभादि-आयोजनानामेव समयो याप्यते, स्थिर कार्यं किमपि न भवेत् । अन्यच्चेदं खेदावहं यत् स्कूलकालेजानामेवाध्यापकानां सम्मेलनमिदमासीत्, संस्कृतपाठशालानां, संस्कृतमहाविद्यालयानां वा अध्यापकानां नात्र प्रवेश इति शासकानामीदृक्ष-संस्कृतभाषाभिवृद्धिविषयेऽपि पक्षपातो दृष्टिगोचरो भवति यो यस्मिन् विषये निष्णातस्तस्मिन् विषये तस्य आह्वयोऽवश्यमेव ज्ञातव्यः । इयमस्ति मतिमतां स्थितिः । संस्कृत-भाषा-विषये संस्कृतविद्यालयाध्यापका एव सुतरां निष्णाताः । अनादिकालतः प्राप्तपरम्परामनुसृत्य येऽद्यावधि संस्कृतं रक्षन्तो वर्तन्ते तेषामध्यापकानां सहयोगं विना नैषांग्लशिक्षादृष्टिदूषितानामध्यापकानां संमेलनं साफल्यमश्नुयात् ।

संस्कृतरक्षण-प्रचारकृते केचन उपायाः ।

१- अमूल्यास्संस्कृतप्राचीनग्रन्था अपरिमितास्तत्र तत्र अमुद्रिताः पतितास्सन्ति । तेषामन्वेषणपुरस्सरं प्रकाशनमावश्यकम् । अन्यान्यराज्यस्थिताः प्राच्य-ग्रन्थालयास्सम्प्रति संस्कृतग्रन्थप्रकाशनकार्यं न प्राग्वत्कुर्वते । बरोडा, मैसूर, गवंकूर, काश्मीर, ग्वालियरादिराज्येषु स्थिता इमे ग्रन्थालयास्सम्प्रति मृतप्राया दृश्यन्ते । अतस्तत्र ध्यानमावश्यकम् । संस्कृतग्रन्थप्रकाशनकार्यं सुचारु यथा ते कुर्युस्तथा प्रयतितव्यम् । तदा ततो मासिक— त्रैमासिक संस्कृतपत्रिका प्रकाशनीयाः । केन्द्रशासकैः प्रान्तशासकैश्चात्र-ध्यानं देयम् ।

२- रेडियो आकाशवाण्यां इतरभाषावत् संस्कृतस्यापि समुचितं स्थानमावश्यकम् ।

३- यदा इतरभाषाशिक्षणाय- राज्यद्वारा सर्वत्र शालास्सन्ति तदा संस्कृत शिक्षणार्थमपि राज्यद्वारा सर्वत्र शालास्स्थापनीयाः । तत्राध्ययनं कुर्वतां विद्यार्थिवेतन-पुरस्कारादिदानव्यवस्थाद्वारा प्रोत्साहः विधेयः ।

४- इतरभाषापरीक्षाणां यावती मान्यता प्रदीयते, शिक्षणसंस्थासु राजकीयोद्योगेषु वा स्थानं प्राप्यते, तत्सर्वं संस्कृतभाषापरीक्षायाश्च प्रदेयम् । पक्षपातः कुत्रापि न विधेयः ।

एतादृशावश्यकविषयेषु सम्मेलनमिदं चारु संमन्त्र्य निर्णेष्यतीति विश्वसिमः । संस्कृतरक्षणाभिवृद्धिप्रचारादिविषयेषु विदुषां परस्परविचारविमर्शसमाकलनपुरस्सरं समुचितावश्यक निर्णयार्थं ईदृशानि सम्मेलनानि पुनः पुनः भवन्त्विति शुभमाशास्महे ।

अन्ते श्रीद्वारकाधीश श्रीचन्द्रमौळीश्वरयोश्चरणपरिसरे समर्पयन्तः शुभां मंगलकामनां समाकलयामो यत् इदं संमेलनं सफलं भवतु, संस्कृतप्रचारश्च सर्वत्र भूयादिति शम् ।

॥ श्री ॥

श्रीगुर्जरप्रांतीय-संस्कृतभाषाप्रचार-सम्मेलनम्, चान्दोद

जगद्गुरु श्रीमद् रामानुजाचार्य श्रीस्वामी-श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी तर्कशिरोमणि वेदांतकेशरीका-

स्वागताध्यक्षपदसे

स्वागत-भाषण

शनिवार ता. २६-११-५५

अनन्तश्री विभूषित श्रीमद् जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी श्रीअभिनव सच्चिदानन्दतीर्थजी, महामहीम विद्वद्गण, उपस्थित सज्जनों तथा माताओं—

आज आप सबका इस समय पुण्यक्षेत्र श्री चांदोदमें स्वागत करते हुवे हमको अत्यंत हर्ष होता है, कि आप सब लोग एकत्रित होकरके ऐसे बृहद्कार्यके लिये विचार विनिमय करेंगे- जिसकी विश्वके लिये अत्यत आवश्यकता है। इस सम्मेलनका उद्देश्य यह है कि सस्कृतभाषाका पुन प्रचार हो, सस्कृतभाषा विश्वकी आदिभाषा एवं विश्वकी अशेष भाषाओंकी साक्षात् अथवा परंपरासे जननी है। यह प्रमाणिक ऐतिहासिक प्रमाणोंसे प्रमाणित हो चुका है। एक समय था कि संस्कृतभाषा राजभाषा, धर्मभाषा एव पवित्र भाषाके रूपमें सर्वत्र संमानरूपमें प्रचलित थी। जर्मनी विद्वान् "वप्प" महोदयने अपने भाषाशास्त्रमें सिद्ध किया है, कि भारतसे पश्चिमकी सब भाषाएं सस्कृत से सम्बन्ध रखती हैं। हॉलेंडके विद्वान् "जे० गोंर" महोदयने "संस्कृत इन इन्डोनेशिया" नामक अपनी पुस्तकमें भारतसे पूर्वकी सब भाषाएं संस्कृतसे सबन्ध रखती है यह प्रतिपादन किया है। किन्तु बीचमें कुछ कालतक वैदेशिक तथा विधर्मियोंके अनेकबारके उपद्रव तथा राज्याश्रयके अभावसे सस्कृतभाषाका प्रचार अत्यत ही अल्प हो गया है, यह प्रत्यक्ष ही है। संस्कृत भाषाके प्रचारकी न्यूनतामें वैदेशिक तथा विधर्मियोका उपद्रव मुख्य ही है, उसके साथ ही साथ हमारेसे देशकालकी विषमताके कारण की जानेवाली उपेक्षा तथा वर्तमान पाठ्यप्रणालीकी कठिनताके कारण उत्पन्न हुई, अरुचि तथा राज्याश्रयका अभाव इत्यादि भी अनेक कारण हैं। भारतके स्वतंत्र होनेके बाद भी, संस्कृतभाषाकी दशा ज्योंकी त्यों बनी रहे और दिन-प्रतिदिन उसका प्रचार क्षीण होता रहे, यह भारतके लिये शोभास्पद नहीं है।

इस दुर्दशासे किन उपायोंसे निकलें और उसके विपुल प्रचार किन किन कारणोंसे हो सकता है, इन विषयोंपर विचार करनेके लिये आप सब एकत्रित हुये हैं।

परमात्माकी कृपासे इस सम्मेलनको ऐसे अध्यक्ष प्राप्त करनेका सद्भाग्य प्राप्त हुआ है जो त्यागी कर्मठ अनुभवी विद्वान् एव सच्चरित्र हैं। इससे अनुमान ही नहीं किन्तु निश्चयपूर्वक कहता हूँ, कि अपना सम्मेलन अवश्यमेव सफल होगा। मेरा मत यह है कि यदि अपने संस्कृत सम्मेलनका यह उद्देश्य सफल होगा तो, देवभाषाका पुनरुद्धार होगा और देवभाषाके उद्धारसे दैवी सम्पत्तिकी जगत्में वृद्धि होगी। जिससे विश्वमें शान्तिका प्रसार होगा। और आसुरी-सम्पत्तिसे संत्रस्त विश्वको सुख, शांति एवं परस्परमें आत्मीयताका साक्षात्कार होगा। इसलिये मेरा मत यह हो गया है कि पचशील सिद्धान्तोंमें षष्ठशील देवभाषाको सम्मिलित नहीं किया जायगा, तबतक शांतिका दर्शन होना दुर्लभ होगा। कारण कि देवभाषामें लिखित रामायण आदि ग्रन्थोंमें विश्वकी संस्कृति प्रतिफलित हुई है। संस्कृतभाषाके प्रचारमें ही विश्वशांतिका मूल निहित है।

अतः आप सबका पुनः पुनः स्वागत करता हूँ और आशा है कि आप सब जिस उद्देश्यसे यहाँ एकत्रित हुए हैं, वह उद्देश्य भगवान् श्री वेंकटेश बालाजी तथा भगवती नर्मदा सफल करे- यह उनसे हमारी नम्र प्रार्थना है। एकबार पुनः स्वागतम्, सुस्वागतम् कह करके आप सबका स्वागत करता हूं।

त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्ववादोंके
व्यर्थ झगडे

वास्तवमें 'त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्व' इन सिद्धान्तोंमें वाद विवाद और झगडे नहीं होने चाहिये। क्योंकि कोई सिद्धान्त लिया तो उससे "परमात्मा-जीव-प्रकृति" इन तीन पदार्थोंका अस्तित्व मारा नहीं जाता। त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्ववाद ये पृथक् पृथक दृष्टिबिंदु ही हैं। किसीके स्वीकारनेपर उसमें त्रैत रहता ही है देखिये—

(१) त्रैतवाद- परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति ये तीन पदार्थ हैं।

इसमें तो तीनोंकी सत्ताके विषयमें किसी तरह सदेह ही नही है—

(२) द्वैतवाद- आत्मा और प्रकृति ये दो पदार्थ हैं। इसमें 'आत्मा' में (परमात्मा+जीवात्मा) इन दो आत्माओंको आत्मरूप होनेसे एक ओर रखा है और दूसरी सत्ता प्रकृतिकी मानी है। पर इस वादमें भी [(१) परमात्मा, (२) जीव] आत्मा और (३) प्रकृति ये तीन पदार्थ माने ही हैं। जीव सत्ता न माननेवाला कोई मत ही नहीं है।

आत्मा — प्रकृति
चेतन — जड
ईश — अनीश
पुरुष — प्रकृति
अक्षर — क्षर

ये द्वैतके नाम हैं, पर इसमें चेतनमें दो चेतन मानते ही हैं। इसलिये यह केवल वर्गीकरणका दृष्टिबिन्दु है। इसमें भी त्रैत मारा नहीं गया है।

(३) अद्वैत- दो नहीं है। यहां ये कितने हैं यह नहीं कहते। 'दो नहीं' इतना ही कहते हैं। दो नहीं है तो कितने हैं कहो, ऐसा कहनेपर, ऐसा पूछनेपर वे चुप रहते हैं। 'इनका कहना है कि- "ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।" यह इनका मुख्य वाक्य है। यहां भी "ब्रह्म-जीव-प्रकृति" ये तीन पदार्थ माने हैं।

'ब्रह्म' सत्य है। सब लोग ब्रह्मको 'सत्य' ही मानते हैं। 'जगत् मिथ्या' जगत् मिथ्या है। 'मिथ्या' का अर्थ 'नास्ति' नहीं है। 'जगत् नास्ति' ऐसा वे नहीं कहते, पर 'जगत् मिथ्या' कहते हैं। मिथ्या कहनेसे नास्ति ऐसा अर्थ नहीं हो सकता।

वह मिथ्या बोलता है, इसका अर्थ वह बोलता ही नहीं ऐसा नहीं है। जो बोलता है वह सत्य नहीं है। भले ही वह मिथ्या बोलता रहे पर उससे वह बोलता ही नहीं ऐसा नहीं सिद्ध हो सकता। अर्थात् 'जगत् मिथ्या है'। यहां जगत् है ऐसा ही अर्थ हुआ। जीव भी है पर जीव ब्रह्मरूप है।

जीवको आत्मामें रखनेसे किसीको बुरा नहीं लगता, फिर उसको ब्रह्मके साथ जोडनेसे क्यों बुरा लगे।

आत्मा+परमात्मा = आत्मस्वरूप
जीव + ब्रह्म = ब्रह्मस्वरूप

द्वैतियोंने जिस तरह आत्मा परमात्माको एक आत्मरूपमें माना, वैसा ही अद्वैतियोंने 'जीव + ब्रह्म' एक रूप माने, इतना ही भेद है। इन दोनोंको 'आत्मा' के रूपमें मानना या ब्रह्मके रूपमें मानना इसमें कोई भिन्नता नहीं है।

जीवका स्वरूप ब्रह्म है और जीवका स्वरूप आत्मा है। इसमें कोई अर्थभेद नहीं है। 'आत्मा और ब्रह्म' अभिन्न ही है।

आत्मा ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त करता है। यह गीतामें कहा है। जीवात्मा प्रकृत्यात्माके सदृश है या परमात्माके सदृश है? इसका उत्तर जीव परमात्मसदृश है यही सत्य है। प्रकृति-जीव-ब्रह्मका वर्गीकरण ही करना है, तब तो-

प्रकृति + [जीव + ब्रह्म] ब्रह्म

ऐसा ही समान गुणधर्मके कारण होगा। जगत् मिथ्या है इसका अर्थ 'जगत् नहीं है' ऐसा नहीं है। तीनों कालोंमें एक रूप नहीं इतना ही उसका अर्थ है और जीव ब्रह्म है इसका भी अर्थ 'इस समय जो जीव है वह अनुष्ठा-

नसे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर सकता है और आनन्दमें रह सकता है। अर्थात् अद्वैतवादी भी तीन वस्तुओंकी सत्ता मानते हैं।

'(१) ब्रह्म सत्य है, (२) जगत् मिथ्या है और (३) जीव ब्रह्म ही है। इस वाक्यमें भी तीनोंकी सत्ता मानी है। अर्थात् 'अद्वैत' में (तीन) त्रैत दूर नहीं होता है।'

(४) एकत्ववाद- वेदमंत्रोंमें एकत्ववाद है। 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः।' (वा०य० अ० ४०, ईश उ० ५) यह एकत्ववादका मंत्र है।

इसके पूर्व 'ईशा वास्यं इदं सर्वं' (वा० य० ४०।१) इसमें 'ईश और इदं (प्रकृति) ऐसा शुद्ध द्वैत कहा है और पश्चात् एकत्वदर्शन करनेसे शोकमोह नहीं होते ऐसा कहा है। अर्थात् (१) ईश है, (२) इदं (प्रकृति) है और (३) एकत्वका दर्शन करनेवाला जीव भी है। ये तीन रहते हुए तीनोंका मिलकर यह एकत्व दर्शन है। इस विषयमें श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा है—

त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। श्वे० उ०

'ब्रह्म, प्रकृति और जीव इन तीनोंका जो विंदन होता है उसका नाम ब्रह्म है।' आत्मा, जीव और प्रकृतिका कीचड होता है। वह सदा कीचड ही रहता है क्योंकि तीन पृथक् वस्तु शानमें हैं। यहां इस अवकाशमें परमात्मा-जीवात्मा- और प्रकृति ऐसे मिले जुले हैं कि उनको तीन बोतलोंमें भरकर रखना असंभव है। सर्वत्र उन तीनोंका 'विंदन' ही है। वह पृथक् करना असंभव है।

शुद्ध त्रैत माननेवाले भी इन तीनोंका मिश्रण ही चारों ओर देखते हैं। अर्थात् तीनोंका कीचड ही यहां है और सदा रहेगा।

कीचड कहनेसे मिट्टी + जल + रंग इन तीनोंका विंदन ही समझा जायगा। त्रैती, द्वैती, अद्वैती तथा एकत्ववादी इन तीनोंका विंदन ही चारों ओर देखते हैं। 'कीचड' कहनेसे वस्तु एक हुई, परंतु उसमें मिट्टी-जल- और रंग ये तीन वस्तु हैं।

इसी तरह परमात्मामें जीवात्मा और प्रकृति मिली है। इनको कोई अलग करके पृथक् रख नहीं सकता। सदा सर्वदा इनका कीचड (विंदन) ही दिखाई देगा। इस विंदनका एकत्व है।

अर्थात् त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्ववादी तीनों वस्तुओंको मानते हैं। वर्गीकरणका दृष्टिबिंदु पृथक् है। इसलिये इनमें झगडा होनेका कोई कारण नहीं है। सत्य दृष्टि प्राप्त होनेसे झगडे दूर होते हैं।

संस्कृतभाषा प्रचार सम्मेलनस्य

समुद्घाटनस्य अवसरे कृतं

पं. श्री. दा. सातवलेकरस्य भाषणम्

भोः भोः सभ्याः पण्डितवर्याः संस्कृतभाषाप्रचारेच्छवः संस्कृतप्रचाराय कृतप्रयत्नाश्च गुर्जरदेशीया महाभागाः! अत्रैव अद्य संस्कृतभाषाप्रचारसंमेलनं भविष्यति। ईदृशं संस्कृतप्रचारसाधकं संमेलनं अस्माकं सर्वेषां संस्कृतभाषाप्रचारेच्छूनां उत्साहवर्धकमेव भविष्यति, इत्यत्र संदेहलेशोऽपि नास्ति।

परं किमेष न अस्माकं दैवदुर्विलासः, यदत्र अस्मिन् भारते वर्षे संस्कृतभाषायाः प्रचारार्थं ईदृशानि संमेलनानि कर्तव्यानि, ईदृशानां सभानां नानाविधानां परिषदां च अनेकानि आयोजनानि कर्तव्यानि, शतशः स्थानेषु संस्कृतप्रचारार्थं नानाकेन्द्राणि संस्थाप्य तत्र तत्र संस्कृतभाषायाः प्रचारः कर्तव्यः। किमेष दुर्दैवस्य दुर्विलासो न?

यत्र कुत्र अन्यस्मिन् देशे एवं प्रचारकार्यं संस्कृतप्रचारार्थं आवश्यकं भवेत्, तर्हि तत् तत्र समादरणीयमेव भवितुं शक्यं, परं यत्र कपिल–कणाद–जैमिन्यादीनां महामुनीनां पवित्रं निवासस्थानमासीत्, पाणिनी–कात्यायन पतञ्जलीनां महर्षीणां व्याकरणमहाभाष्यादि दिव्यग्रंथानां यत्र रचनास्थान आसीत्, यत्र च वसिष्ठ–वामदेव–अत्रिप्रभृतीनां दिव्यर्षीणां धर्मप्रचारकार्यं जातम्, यत्र च व्यासवाल्मीकिप्रभृतीनां दिव्यानि महाकाव्यानि निर्मितानि सन्ति तानि च इदानीं अपि राष्ट्रीयां अपूर्वां जागृतिं कृत्वा नवीनं उत्साहपूर्णं जीवनं अस्मिन् भारते राष्ट्रे संवर्धयन्ति, तत्रैव भारते संस्कृतभाषाप्रचारार्थं एतादृशः प्रयत्नः सर्वैः कर्तव्यः, इत्येवं महान् दुर्धरः समयः समागत इदानीम्।

किमेतत् शोकस्थानं न? यदि एतच्छोकस्य स्थानं न, तर्हि किमन्यच्छोकस्थानं भवितुं शक्यं?

अस्मिन्नार्यावर्ते भारते पूर्वकाले एषा संस्कृता भाषा समुत्पन्ना, संवर्धिता च तैः ऋषिवर्यैः, परिपुष्टा च काव्यविशारदैः, यत्र च सर्वाणि मानवादि धर्मशास्त्राणि निर्मितानि, यत्र चाणक्यस्य आर्यस्य अर्थशास्त्रं राज्यशासनचातुर्यार्थं प्रकटीकृतं, तत्रैव इदानीं संस्कृतभाषायाः प्रचारस्य आवश्यकता प्रतिभाति इति खलु दुर्दैवस्य महान् प्रकोपः संजात इव इति प्रतिभाति।

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।
>
> मनु०

इत्येवं विधां भारतस्य प्रशंसां स्वयं भगवान् मनुः आह। पृथिव्यां निवसन्तः सर्वे मानवाः, समागच्छन्तु अस्मिन् भारते वर्षे, अत्रस्येभ्यः पंडितश्रेष्ठेभ्य' ते स्वकीयं चरित्रं जानन्तु, तत ऊर्ध्वं ते स्वदेशं गत्वा, तत्रस्थेषु जनेषु तस्य धर्मस्य प्रचारं कुर्वन्तु एवं सर्वे जना भारतीयेन तत्त्वज्ञानेन ज्ञानिनः सन्त अभ्युदयनिश्रेयससिद्धिं प्राप्नुयु, इति प्राचीने काले भगवतः मनोः समादेशः समुद्घोषित आसीत्।

अत्र अस्मिन् भारते इदानीं किं भवतीति द्रष्टव्यं भवद्भिः सर्वैः। अस्य भारतस्य क आसीत् अधिकारः प्राचीने समये, कश्च इदानीं संजात इति दृष्ट्वा विषण्णमिव मनः संजायते।

अत्र अस्माकं दुर्दैवं भवतु वा सुदैवस्य समयः भवतु "प्राप्तं प्राप्तमुपासीत" इति न्यायेन इदानीं अस्माकं भारते वर्षे संस्कृतभाषायाः प्रचारः कर्तव्यः अस्माभिः। एष एव इदानीं अस्माकं धर्मोऽस्ति। यदि अस्माभिः न क्रियते तर्हि न कोऽपि आगत्य अत्र एतत् कर्म करिष्यति। इदानीं संस्कृतभाषायाः प्रतिरोधाय बहुभिः यत्नो विधीयते। संस्कृता भाषा कठिना वर्तते, अनेकाश्च भाषाः किमर्थं अध्येयाः छात्रैः, तेषां मनसि अध्ययनभारो वर्धते इत्यादि प्रकारेण पाठशालासु अपि संस्कृतभाषाध्यापनं न्यूनं क्रियते। तत् सर्वैः प्रतिषेद्धव्यम्। एतदस्माकं कार्यं इदानीं अत्र वर्तते। एतत्तु अस्माभिः शीघ्रं तथा त्वरं च कर्तव्यम्। अन्यानि कर्माणि त्यक्त्वा प्रथमं एतत्कर्तव्यम्।

संस्कृतभाषा कठिना नास्ति । यदा व्याकरणं प्रथमं पाठयन्ति तदा सा कठिनेति प्रतिभाति । परं सर्वे बालकाः व्याकरणं विना एव सुगमतया सर्वां स्वकीयां मातृभाषां जानन्ति । एवं प्रथमं भाषाया अध्ययनं कृत्वा तत्पूर्वं व्याकरणपरिचयः कर्तव्यः । इत्येवं कृते सर्वासु भाषासु संस्कृता भाषा सरला अस्ति इति सर्वैः बोद्धुं शक्यते ।

सर्वैः द्वित्रिषु संवत्सरेषु संस्कृतभाषायां प्राविण्यं सम्पादयितुं शक्यं, परं ईदृशं प्राविण्यं आंग्लभाषायां विंशति वर्षेषु अपि प्राप्तुं न शक्यम् । एतेन ज्ञायते यत् संस्कृता भाषा सरला एव वर्तते इति ।

संस्कृता भाषा भारते वर्षे सर्वेषु प्रांतेषु इदानीं प्रचलितैवेति दृश्यते । सर्वासु प्रान्तभाषासु प्रायशः प्रतिशतकं षष्टि वा सप्तति वा शब्दाः इदानीं संस्कृतभाषायाः प्रयुज्यन्ते । एतेन ज्ञायते प्रान्तीयभाषाभाषिणः प्रतिशतकं षष्टि वा सप्तति संस्कृतपदानां प्रयोगं कुर्वन्ति । अतः प्रान्तीयभाषाभाषिणां संस्कृता भाषा अपरिचिता इति वक्तुं नैव शक्यते ।

'संस्कृतभाषा मृता' इति ये कथयन्ति ते पश्यन्तु अस्मिन् भारते इदानीं संस्कृतभाषायां मासिकानि साप्ताहिकानि च मुद्राप्य प्रकाश्यन्ते । किं मृतभाषायां कुत्रापि नियतकालिकानां एवं प्रचारः संभवति । भारतस्य प्रान्ते प्रान्ते सहस्रशो विद्वांसः सन्तीदानीं ये संस्कृतभाषायां वार्तालापं कुर्वन्ति । अतः संस्कृतभाषा मृता इति यैः कथ्यते तदसत् इति एतया अनुभूत्या स्पष्टमेव भवति ।

भारते तु सर्वेषां आर्याणां सर्वे धर्मसंस्काराः संस्कृतभाषयैव भवन्ति । धर्मसंस्कारेषु संस्कृता भाषा अत्र व्यवह्रीयते इति स्पष्टं भवति एतेन । यथा जातकर्मणि संस्कृता भाषा प्रयुज्यते, तथैव वैवाहिके तथैव अन्त्यं इष्टिकर्मण्यपि संस्कृता भाषा एव प्रयुज्यते । अत एव वक्तुं शक्यते यदार्याणां जीवनं संस्कृतभाषया सह संबद्धं वर्तते इति । येषां जीवनमेव एवं प्रकारेण संस्कृतभाषया सह निबद्धं अस्ति ते कथं नाम कथयितुं शक्नुवन्ति यत् संस्कृतभाषा मृतेति । प्रत्यहं संस्कारेषु तेषां गृहे संस्कृतभाषा प्रयुज्यमाना दृश्यते अत: कारणात् भारते वर्षे संस्कृतभाषा नैव मृता । अन्येषु देशेषु सा मृता भवतु नाम परं भारते तु अद्यापि जीविता एवास्ति ।

अस्मिन् जगति ये ये अनेकादेशाः सन्ति, तेषु देशेषु अंशतः संस्कृतभाषायाः प्रचारो दृश्यते ।

भारतस्य पश्चिमस्यां दिशि अफगाणिस्थान नामको एको देशो वर्तते । तस्य 'अहिगण स्थानं' इति प्राचीनं नाम । अहीनां गणानां एतत्स्थानं वर्तते । अहीनां आर्याणां च संघर्षः प्राचीनकाले संजात आसीत् । अहयः आर्याणां शत्रवः आसन्, मित्रभूताश्चाप्यासन् । सर्पाणां कन्यकाभिः आर्याणां विवाहा अपि तदानीं संजाताः । सर्पसत्ररूपेण सर्पाणां वधोऽपि आर्यैः कृतः परीक्षितवधस्य कारणेन । एवं अफगाणिस्थानं सर्पगणस्थानमेव । सर्प, हर्प, अफ इति अपभ्रंशेण सर्पस्य अफ इति भवति । सर्प गणानां अफगाणानां स्थानमेतत् ।

अस्मिन्नफगाणिस्थाने इदानीं संस्कृतभाषाया प्रचारो भवति । तत्रत्यानां श्रेष्ठविद्यापीठे संस्कृतभाषायाः पठनंपाठनं च भवति । तत्रत्या भाषा पुश्तु इति वर्तते । अस्या पुश्तु भाषाया परिपोषणं संस्कृतभाषया भवति इति तैः पठाणैः उच्यते, अतस्ते तत्र आदरेण संस्कृतां भाषां पठन्ति ।

अफगाणिस्थाने 'खेल' इत्येक जातिवाचकं नाम वर्तते । "इशाका-खेल, ईसा-खेल" इति एवं तेषां जातिवाचकानि नामानि इदानीमपि तत्र प्रचलितानि सन्ति । एष 'खेलः' वेदेऽपि दृश्यते ।

खेलस्य...विश्पलायै आयसीं जंघां
सर्तवे प्रत्यधत्तम् । ऋ० १।११६।१५

खेलस्य राज्ञः पुत्री विश्पला नाम्नी वीरा आसीत् । तस्या जंघा युद्धे कृत्ता । तत्पूर्वं सर्तवे तस्यै विश्पलायै आयसीं जंघां अश्विनौ देवौ प्रत्यधत्तम् । एष एव खेलः इदानीं पर्यन्तं अहिगणस्थाने दृश्यते । अहिषु खेलः आसीत् इदानीमपि स तत्रैवास्ति ।

भारते संस्कृतस्य अध्ययनं न्यूनी क्रियते, परन्तु अफगाणिस्थाने तदेव संवर्ध्यते राज्यशासननियमेन इति द्रष्टव्यमेव सर्वैः ।

यदि नाम पुश्तु भाषायाः सहाय्यं संस्कृतभाषया भवितुं शक्यं तर्हि भारतीयभाषाणां परिपोषः संस्कृतेन न भविष्यति इति कथं केन वक्तुं शक्यते ?

सुषेणः – हुसेनः; काश्यपः – खानः एवं अनेके शब्दाः एषां भाषासु संस्कृतादेव गताः ।

रूस देशेऽपि इदानीं 'आह्व' इति पदं प्रयुज्यते। "(१) वेराशीलाव्हः, (२) मोलोटोव्हः, (३) मालेन्कोव्हः इत्यादीनि मानवनामानि तत्र इदानीमपि प्रचलितानि दृश्यन्ते।

संस्कृते 'आह्व' इति पदं "एतन्नामक" इत्यर्थे वर्तते। यदि पूर्वस्मिन् काले रूस देशे संस्कृतस्य प्रचारो नासीत्, तर्हि 'आह्व' इति पदं तत्र कथं गतं ? इदानीमपि तैः तत् किं कारणेन प्रयुज्यते ?

'वीर-शील-आह्व' इत्यत्र एतानि त्रीण्यपि पदानि संस्कृतान्येव वर्तन्ते। एवं विधानि तेषां भाषायां सहस्रशः पदानि प्रयुज्यमानानि दृश्यन्ते। यदि संस्कृतभाषा कदाचिदपि तत्र प्रचलिता नासीत् तर्हि कथमेतानि नामानि तत्र गतानि ?

नार्वे स्वीडनेऽपि 'स्टाक-होम' इत्यत्र 'होम' पदं सोमस्य वाचकं वर्तते। सोम इति सोमयागार्थं प्रयुज्यमाना हैमवती वनस्पतिः। अस्या वर्णनं ऋग्वेदे नवममण्डले वर्तते। एष सोम 'स्टॉक-होम' इत्यस्मिन्नाम्नि कथं गतः ?

एवमेव 'कोलंबिया' इत्यत्र 'काल-अम्बा-इया' इति पदानि दृश्यन्ते। तानि 'शंकर-पार्वती-द्वीप' वाचकानि सन्ति। काल अम्बा इति शंकरपार्वती वाचके पदेऽस्तः।

'काल-टॅक्स' इत्यत्रापि 'काल+तक्षक' योः पदे वर्तेते। शंकरेण सह तक्षकस्य संबंधः अत्यन्तं प्राचीनः। इदानीं स 'काल-तक्षके' स्पष्टं दृश्यते।

आंग्लभाषायां संस्कृत 'सुनु' पदस्य 'सन्' इति जातं, तत्र इन्द्रसुनुः इत्यस्य 'अन्दर सन्' इत्यादयः शब्दाः समुत्पन्नाः। 'वागन' इत्यस्य मूलं 'वाहनं' इति। एतत्सर्वं यदा संस्कृतभाषा यूरोपीय पण्डितैः अधीता, तदा तैः स्वकीयभाषाया आदिमूलं संस्कृतं अस्तीति ज्ञातं, तथा च स्वकीये, कोशे सर्वमेतल्लिखितं तैः। केनापि तद्द्रष्टुं शक्यते बृहदांग्लकोशे।

एवं संस्कृतभाषा विश्वभाषा भवतु, विश्वासां भाषाणां माता वा भवतु। एवमास्ति इति सत्यं। अत्र कस्यापि मनसि सन्देहलेशोऽपि भवितुं न शक्यः। अतः कारणादेव संस्कृतपदानि सर्वासु विश्वभाषासु दृश्यन्ते। प्राचीनतमे काले एषा विश्वभाषासीदित्यस्य एतानि पदचिन्हानि सन्ति।

एवं सति अस्माकं प्रयत्नः एषा संस्कृत भाषा सत्या विश्वभाषा भवतु, इति हेतोः सिद्ध्यर्थं भवितुं योग्यः। एतदर्थमेव स्वाध्यायमण्डलेन निखिले भारते चतुःशताद्प्यधिकानि संस्कृत-प्रचार-केन्द्राणि संस्थाप्य, तत्र तत्र संस्कृतस्य प्रचारः क्रियते। आ काश्मीरात् मद्रासपर्यन्तं एतानि केन्द्राणि संस्कृतस्य प्रचारं कुर्वन्ति।

इदानीमत्र गुर्जरप्रान्तस्य संस्कृतप्रचारकाणां संस्कृतप्रचारेच्छूनां तथा च संस्कृतप्रचारार्थं प्रयतमानानां च सम्मेलनं भविष्यति। एवमेव संस्कृतभाषाप्रचारार्थं अन्येषु प्रान्तेषु अपि सम्मेलनानि भवन्तु इति इच्छा अस्माभिः धार्यते मनसि। तथैव भविष्यतीति आशास्यते।

इति संस्कृतप्रसारस्य शुभेच्छया अस्य संमेलनस्य उद्घाटनं क्रियते। उद्घाटितमेतत् संमेलनं। अत ऊर्ध्वं नियमानुसारेण अस्य कार्यं भविष्यति। भवद्भिः उपस्थितैः सभ्यैस्तथा यतितव्यं यथा एष प्रयत्नः संस्कृतभाषाभिवृद्ध्यर्थं सहायकः भवेत्। तथा च एतेन गुर्जरप्रान्ते संस्कृतस्य प्रचारः भवतु।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याः अनन्तश्री-विभूषिताः श्रीशारदापीठाधीश्वराः श्रीजगद्गुरु-शंकराचार्यभगवत्पूज्यपादाः अत्र समागताः। एषां समुपस्थित्या एव संमेलनस्य हेतवः सफलतां गता इति मन्यामहे वयम्। श्रीमतां आचार्याणां आशीर्वादेन, शुभया प्रेरणया तथा च तेषां प्रोत्साहनेन वयं धन्याः संजाताः। संस्कृतभाषा प्रचाराय महदेतत् शुभचिन्हमेव वर्तते। इति सर्वे उपस्थिता विद्वांसो जानन्तु।

एतेषां शुभाशिषा सर्वं संमेलनकार्यं निर्विघ्नं अतऊर्ध्वं भविष्यतीति अत्र न संदेहः। उद्घाटनप्रसंगे एतदुक्त्वा विरमामि।

संस्कृत लोकोक्तियाँ

(ले० श्री पं० हरिदत्तजी शास्त्री, एम. ए., विद्याभास्कर)

न

नैकं चक्रं परिभ्रमयति ।

अर्थ— एक पहिएसे गाड़ी नहीं चल सकती ।

प्रयोगः— स एकाकी वोढुं न प्रभवति, नैकं चक्र० ।

नातप्त लोहो लोहेन संधीयते ।

अर्थ— लोहा बिना तपे दूसरे लोहेसे नहीं जोड़ा जा सकता ।

प्रयोगः— उभयानुरागः सम्बन्ध निदानम्, नातप्त० ।

न व्यसनपरस्य कार्यावाप्तिः ।

अर्थ— व्यसनी मनुष्यको कार्यमें सफलता नहीं मिलती ।

प्रयोगः— स हि यतमानोऽपि न फलं लभते न व्यसन० ।

नास्त्यग्नेर्दौर्बल्यम् ।

अर्थ— अग्नि दुर्बल है ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता है ।

प्रयोगः— दुष्टोऽयमतिमृदुरितिकुतोनास्त्यग्नेः० ।

नास्ति रत्नमखण्डितम् ।

अर्थ— जिसमें कहीं खुरचन (घर्षण) न लगी हो ऐसा रत्न दुर्लभ है ।

प्रयोगः— बाल्ये स विद्वान् भर्त्सनामवाप, नास्ति रत्न० ।

नमन्त्यपि उदञ्चन् कोटिः कूपोदक क्षयं करोति ।

अर्थ— पानी ऊपर निकालनेके यंत्रकी डांडी नीचे झुक जानेपर भी वह कुएंके पानीको समाप्त ही करती है ।

प्रयोगः— वरण्डलम्बुकस्य शिरो नमति जलल्लादत्ते यथा शिष्यः प्रणमन्नर्जयति विद्याम् ।

निकृतिप्रियाः हि नीचाः ।

अर्थ— नीच मनुष्योंकी रुचि दुष्कर्मोंमें ही होती है ।

प्रयोगः— उपकृतोऽप्यपकुरुतेऽसाधुः, निकृति० ।

न चेतनवतां वृत्तिभयम् ।

अर्थ— स्फूर्तिमान्को आजीविकाकी चिन्ता नहीं होती ।

प्रयोगः— युवको न गणयति दुःखानि दास्यवृत्तेः, न चेतन० ।

न मृतस्यौषध प्रयोजनम् ।

अर्थ— मृत मनुष्यको औषधि देनेसे क्या लाभ ।

प्रयोगः— असमये कृतं कार्यम् निरर्थकम्, न मृतस्यौषध प्रयोजनम् ।

न पुष्पार्थी सिञ्चति शुष्कतरुम् ।

अर्थ— फूलकी इच्छा रखनेवाला सूखे वृक्षको नहीं सींचता ।

प्रयोगः— रसोपलब्धिः सरसस्थान एव संभवति, तस्मादुच्यते न पुष्पार्थी सिञ्चति शुष्कतरुम् ।

न त्वरितस्य नक्षत्र परीक्षा ।

अर्थ— जिसे कार्यकी शीघ्रता है उसे नक्षत्र परीक्षा करते रहना आवश्यक नहीं है ।

प्रयोगः—शीघ्रकारी न नक्षत्र परीक्षां प्रतीक्षते । तद्वत् न त्वरितस्य नक्षत्र परीक्षा ।

नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् ।

अर्थ— घोर कर्म किए बिना ऐश्वर्य नहीं मिलता ।

प्रयोगः— संसारे प्रायो दृश्यते यत् जनाः अन्येषां धनापहरणेनैव धनाढ्याः जायन्ते, अतएवोच्यते- नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् ।

न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ।

अर्थ— धीर मनुष्य अपने निश्चयसे विचलित नहीं होते ।

प्रयोगः— प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति, तद्वदेव न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ।

न कपि सरलेन पदं निधीयते ।

अर्थ— सीधी अंगुलीसे जमा हुआ घी नहीं निकलता ।

प्रयोगः— कश्चित्कार्यसाधने कुटिलताया अत्यावश्यकता भवति यतो न कापि सरलेन पदं निधीयते ।

न वंशवृक्षेषु फलन्ति द्राक्षा ।

अर्थ— बाँसके वृक्ष पर अंगूर नहीं फलते ।

प्रयोगः— सुमधुरं फलम् सुमधुर एव वृक्षे संभवति, न वंशवृक्षेषु फलन्ति द्राक्षाः ।

न दुर्जनो जातु जहाति दुर्गुणम् ।

अर्थ— दुर्जन कभी भी दुर्गुण नहीं छोड़ता ।

प्रयोगः— प्रकृतिर्दुस्त्यजा, न दुर्जनो जातु जहाति दुर्गुणम् ।

नास्ति गतिश्रमो यानवताम् ।

अर्थ— जिसके घर वाहन होता है उसे चलनेका श्रम नहीं होता है।

प्रयोगः— येषां जनानां समीपे धनं भवति ते तस्य यथाकांक्षितम् व्ययम् विदधाति यथा नास्ति गतिश्रमो यानवताम् ।

नास्त्यर्थिनो गौरवम् ।

अर्थ— याचकोंको कभी बड़प्पन नहीं मिलता।

प्रयोगः— याचनं मानहानिकरम्, अतएवोच्यते-नास्त्यर्थिनो गौरवम् ।

न मीमांस्याः गुरवः ।

अर्थ— बड़े आदमियोंके आचरणकी मीमांसा (आलोचना) न करो ।

प्रयोगः— लघुमुखेन महतीं वार्ताम् न कुर्यात्, यतो न मीमांस्याः गुरवः ।

न समुद्रतलमस्पृष्ट्वा नरो विन्दति मौक्तिकम् ।

अर्थ— समुद्रतलका स्पर्श किये बिना कोई मनुष्य मोती नहीं पा सकता है।

प्रयोगः— महद्वस्तुनः कृते महतो यत्नस्यावश्यकताऽस्ति । न समुद्रतलमस्पृष्ट्वा नरो विन्दति मौक्तिकम् ।

न चागतं सुखं त्यजेत् ।

अर्थ— आए हुए सुखका परित्याग न करो ।

प्रयोगः— अस्य संसारस्य सुखदुःखरूपे फले भवतः, यथाऽनिवार्यरूपेण दुःखप्राप्तिर्जायते तथैव न चागतं सुखं त्यजेत् ।

निम्बफलानि काकैर्भुज्यन्ते ।

अर्थ— नीमके कड़ुए फल कौए ही खाया करते हैं ।

प्रयोगः— मलिनचरित्रशालिनोऽसुन्दराणि कटुफलानि भक्षयन्ति, अतएवोच्यते— निम्बफलानि काकैर्भुज्यन्ते ।

[क्रमशः]

वेद ईश्वरकृतका सत्यार्थ

[लेखक— श्री. रामाचार्य, लखावटी (बुलन्द शहर)]

साधारणतः वेदको ईश्वरकृत कहा जाता है । किन्तु इसका तात्पर्य क्या है इसमें मतभेद है । क्या जिस ईश्वरने सूर्यचन्द्र तारागण और इस पृथ्वीकी रचना की है उसी ईश्वरने चारों वेदोंके मन्त्रोंकी रचना की है ? मेरे मतमें यह कदापि संभव नहीं । जिस प्रकार संसारके रचनेवाले ईश्वरने रेडियो, ग्रामोफोन, हवाई जहाज, मशीनगन, दूरबीन, थर्मामीटर इत्यादि अनेक आविष्कार नहीं किए तथा नहीं उसने रामायण, महाभारत, गीता, कुरान, बाइबिल इत्यादि पुस्तकोंके श्लोक रचे उसी प्रकार उस ईश्वरने वैदिकमन्त्र भी निश्चयपूर्वक नहीं रचे । बल्कि जिस प्रकार पार्थिव ईश्वरोंने उपर्युक्त आविष्कार किए हैं तथा गीता, कुरान इत्यादिके श्लोक रचे हैं उसी प्रकार सुदूर प्राचीनतम कालमें पार्थिव ईश्वरोंने वैदिकमन्त्रोंकी रचना की थी । पार्थिव ईश्वरोंसे मेरा तात्पर्य इन अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र (अंगिरा) संज्ञक अनेक महर्षियोंसे है जो वेदसंज्ञक, वैज्ञानिक मन्त्रोंकी रचना करनेमें समर्थ हुए हैं ।

जिस प्रकार मारकोनी, एडिसन, गैलिलियो इत्यादि महर्षियोंने आधुनिक कालमें प्राकृतिक शक्तियोंसे प्रेरणा तथा स्फुरणा पाकर अनेक आविष्कार किये तथा कृष्ण, व्यास, जिब्राईल इत्यादि समर्थोंने पुस्तक रचनाएं की। उसी प्रकार प्राचीनतम कालमें वैदिक महर्षियों (पार्थिव ईश्वरों— समर्थ पुरुषों–ऋषि ऋषिकाओं) ने प्राकृतिक शक्तियोंसे (तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः) प्रेरणा तथा स्फुरणा पाकर अनेकानेक वैदिक विज्ञानों तथा कलाकौशलोंका आविष्कार तथा अन्वेषण करके प्राचीनतम भाषामय मन्त्रोंकी रचना की थी । चूंकि वैदिकमन्त्र किसी अन्य प्राचीनतम पुस्तकपर आधारित नहीं हैं' स्वयं प्राचीनतम और मौलिक रचना होनेके कारण, स्वत. प्रमाण हैं और पश्चात्की सब रचनाएं परतः प्रमाण हैं क्योंकि पूर्ववर्ती वैदिकमन्त्र अन्य सब रचनाओंके आधार हैं ।

उपर्युक्त कारणोंसे ही वेदसंहिताएं (वेदचतुष्टय मंत्र संहिताएं) ईश्वरकृत, स्वत. प्रमाण, संसारके पुस्तकालयमें प्राचीनतम पुस्तक हैं। तात्पर्यार्थ तथा सत्यार्थ यह हुआ कि वेदचतुष्टय आर्षेय तथा पौरुषेय हैं। पुरुषविशेष ही ईश्वरः (समर्थपुरुष) महर्षि होता है। अतः वेद पौरुषेय हैं। एक ही व्यक्तिविशेषकी रचना न होनेसे वेद अपौरुषेय भी कहे जाते हैं तथा ईश्वरीय प्राकृतिक शक्तियोंसे प्रेरणा प्राप्त होनेपर ऋषिकृत होनेसे भी वेद ईश्वरकृत कहे जाते हैं। अंतिम तात्पर्य यह निकलता है कि वेदोंको ईश्वरकृत, ऋषिकृत, पौरुषेय, अपौरुषेय कहनेकी दृष्टियां विभिन्न हैं वस्तुत. ठोस बात यह है कि मन्त्ररचना मानुषीय है। इसीको ब्रह्मकृत, ब्रह्माकृत, ब्राह्मणकृत, ऋषिकृत' ईश्वरकृत कहा जाता है।

वैदिक ऋषियोंने अपने अभिमानको प्रकट न करते हुए ऐसा कहा है कि यह वेदसंज्ञक विज्ञान हमने अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् विश्वके मूलकारण परमात्मासे अथवा उसकी प्राकृतिक शक्तियोंसे प्रेरणा प्राप्त करके प्राप्त किया है। तस्मात यज्ञात् सर्वहुतः का यही तात्पर्य है। इस सर्वहुत यज्ञसे अर्थात् विराट् पुरुषसे अथवा मानुषीय शक्तियोंके श्रेष्ठ परिश्रमों द्वारा विविध विज्ञानों तथा कलाओंकी सृष्टि हुई है। जिन ऋषियों द्वारा वेद (ज्ञान) मन्त्र रचे गए वे सब चार कोटियोंमें विभाजित किए गये हैं— वे अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र (अंगिरा) संज्ञक चार प्रकारकी ऋषिकोटियोंमें गणित हैं।

वेदोंका आदि काल ज्ञात न होने तथा प्राचीनतम होनेसे वेद अनादि कहलाते हैं तथा अनेकानेक सत्य विज्ञानों और कलाओंका बीज वैदिक संहिताओंमें मौजूद होनेसे वेद अनन्त अथवा सब सत्य विद्याओंका भंडार कहलाते हैं। मोटे शब्दोंमें वेद विविध विज्ञानों और कलाओंकी आर्षेय संहिताएं हैं जो महर्षियों द्वारा आविष्कृत हैं । प्राकृतिक विज्ञानोंके नियम नित्य होनेसे वेद नित्य कहलाते हैं।

वेद शब्द प्राचीनोंकी भाषामें पारिभाषिक शब्द है और जैसे आजकी भाषामें हमारे लिए 'साइंस' (विज्ञान) शब्द एक प्रामाणिक तथा पारिभाषिक शब्द बना हुआ है वैसे ही वैदिक भाषामें 'वेद' एक प्रामाणिक तथा पारिभाषिक शब्द है । इसीलिए वेद अथवा वेदोंका भारतमें इतना प्रामाण्य तथा श्रेष्ठत्व है। वेदके मानी ही ज्ञानविज्ञान अर्थात् साइंसके हैं । उपर्युक्त कारणोंसे ही वेदको (समर्थों की दृष्टि कृति होनेसे) ईश्वरकृत कहते हैं।

प्रमाणपत्र वितरणोत्सव

इन्दौर

दि. १-११-५५ को मध्यभारत शासनके वित्तमंत्री श्री मिश्रीलालजी गंगवाल की अध्यक्षतामें संस्कृत साहित्य समितिकी ओरसे शारदोत्सव मनाया गया। मङ्गलाचरण तथा संस्कृत स्वागतगानके पश्चात् नगरके प्रसिद्ध वैद्य आयुर्वेदाचार्य श्री रामनारायण शास्त्रीजी का सारगर्भ विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ। आपने कहा कि शारदोत्सव एक दिनका उत्सव नहीं है यह जीवनको पुष्ट एवं मङ्गलमय बनानेकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ हैं। शरदृतु राजनैतिक एवं साहित्यिक विशेषताओंके साथ आयुर्वेदिक महत्व भी रखती है। सभी प्रकारकी ओषधियां इन्हीं दिनोंमें परिपक्व बनकर मानवको आरोग्य प्रदान करनेमें समर्थ होती हैं। शारदाकी उपासनाके लिये यह सुवर्ण अवसर है। संस्कृत भाषामें हमें जीवनको मङ्गलमय बनानेके अनेक मार्ग मिलते हैं। आज किल्ला-पारडीके द्वारा संस्कृतभाषा प्रचारका जो कार्य देशव्यापी चल रहा है वह सराहनीय है। बालकों एवं संस्कृत जिज्ञासुओंको इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये।

पं. गजानन शास्त्रीजीने सुन्दर संस्कृत कवितायें सुनाईं। पश्चात् संस्कृत साहित्य समितिके मन्त्री तथा इन्दौर केन्द्राध्यक्ष पं. भगीरथजी शास्त्रीजीने स्वाध्याय मण्डल तथा उसके संस्कृत प्रचार कार्यकी विस्तृत जानकारी दी। आपने कहा कि आज हिन्दुस्थानमें संस्कृतका अध्ययन परीक्षाओंपर ही आधारित है। बिना परीक्षाके पठन-पाठन की प्रवृत्ति नहींसी है। अतः समाजके इसी दृष्टिकोणको सामने रखते हुवे स्वाध्यायमण्डलने जो परीक्षायें संचालित की हैं, वे सर्वथा योग्य ही नहीं अपितु इस विकराल समयमें संस्कृतके लिये अत्यन्त आवश्यक भी हैं। शासनसे अनुरोध है कि इस प्रकारकी परीक्षाओंकी योग्य देखभाल के साथ उन्हें मान्यता देनेकी कृपा करें।

इसके पश्चात् उत्तीर्ण विद्यार्थियोंको प्रमाणपत्र दिये।

सभापति पदसे भाषण करते हुवे श्रीमान् मन्त्रि महोदय श्री मिश्रीलालजी गंगवालजी ने कहा कि संस्कृत साहित्य हमारे देशको सर्वोच्च वस्तु है। हमारे देशका पूरा वाङ्मय संस्कृत भाषामें ही है। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक भारतीय संस्कृतसे लाभ उठावें। आज देशमें सरस्वतीकी आराधनाकी अपेक्षा लक्ष्मीकी आराधना विशेष हो रही है, किन्तु यह शुभ लक्षण नहीं है। और जब तक ऐसा चलेगा विश्वमें शान्ति स्थापित न हो सकेगी। जीवनमें मधुरता होना चाहिये। यह कार्य हमारी संस्कृत भाषाने किया है और उसमें वह सामर्थ्य भी है। शारदोत्सव केवल पय.पानका उत्सव नहीं। यह जीवनको पूर्ण बनानेका संकेत है। विशारद परीक्षोत्तीर्ण कु. शकुन्तला गुप्ताको प्रतापसिंह शील्ड देते हुवे आपने कहा कि यह खुशीकी बात है कि एक बालिकाने संस्कृतमें इतना परिश्रम किया। पूर्वमें अनेक विदुषियाँ हो गयी हैं। आज यदि इसी प्रकार संस्कृत शिक्षाका प्रसार देशमें हो तो अवश्य ही देशका कल्याण होगा। आपने संस्थाको तथा परीक्षार्थियोंको धन्यवाद देते हुवे सफलताकी कामना की।

ज्योतिषाचार्य पं. रामकृष्ण शास्त्रीजीने उपस्थित नागरिकोंको धन्यवाद दिया, इस अवसर पर इन्दौर बैंकके मेनेजर जोशीजी वकील साहब भाटे, इंजिनियर साहब श्री मिश्र तथा अनेक प्रोफेसर एवं शिक्षक विद्वान् उपस्थित थे।

पयःपानके पश्चात् उत्सवका कार्यक्रम समाप्त हुवा।

बैतूल

गत ता. १० नवम्बर १९५५ को न्यू. बैतूल हाईस्कूल केंद्र बैतूलमें स्वाध्याय मंडल (पारडी) द्वारा आयोजित फरवरी ५५ की परीक्षाओंमें उत्तीर्ण विद्यार्थियोंका प्रमाणपत्र वितरण समारोह संयोजित किया गया। पुरस्कार तथा प्रमाणपत्र श्री. गो. गो. देसाई जिलाधीश, बैतूलके करकमलों द्वारा वितरित किये गये।

सर्व प्रथम श्री धीरेंद्रनाथजी वर्माने केन्द्र व्यवस्थापक नाते स्थानीय केन्द्रकी अपनी रिपोर्ट पढी। आपने बताया कि इस केन्द्रमें फरवरी ५५ तककी परीक्षाओंमें ११० छात्र और ३१ छात्राएं सम्मिलित हुये हैं। इस बारकी प्रारम्भिणी परीक्षामें इस केन्द्रसे विशेष योग्यता प्राप्त कर सर्व प्रथम आनेपर एक बालिका कुमारी अनीसा खानको पुस्तक पुरस्कारमें मिली है। मुसलमान होते हुये भी उसका संस्कृत प्रेम प्रशंसनीय है। इसीलिये पारडी केन्द्रकी ओरसे उसे एक विशेष पुरस्कार पुस्तकरूपमें प्राप्त है। इसी प्रकार इस शालाके एक विद्यार्थी शामराव अडलकको प्रवेशिका परीक्षामें इस केन्द्रसे प्रथम श्रेणीमें प्रथम उत्तीर्ण होनेपर पुस्तक पुरस्कारमें मिली है।

श्री. वर्माजीने अपनी रिपोर्टमें बताया कि फरवरी ५५ के बादकी सितंबर १९५५ की परीक्षामें इस केन्द्रसे ७४ परिक्षार्थी परीक्षामें बैठे थे, जिनमें इस नगरके कुछ सज्जन और महिलाओंने भी भाग लिया था। इन परीक्षाओंका परिणाम भी अति उत्तम रहा है।

इस केन्द्रको उचित सहयोग देनेके उपलक्ष्यमें आपने सरकारी हाईस्कूलके प्रधान अध्यापक- श्री वर्मा; मार्मेल स्कूलके सुपरिटेंडेंट श्री. श्रोती, तथा उच्च कन्याशालाकी प्रधान अध्यापिका श्रीमती रानडे का आभार माना। सरकारी हाईस्कूलके संस्कृत शिक्षकका विशेष सहयोग मिलने पर आपने उन्हें धन्यवाद दिया।

इसके बाद श्री. देसाई महोदयने प्रमाणपत्र और पुरस्कार वितरित किये। अपने समारोहके भाषणमें श्री देसाई महोदयने विद्यार्थियों और शिक्षकोंको सरल शब्दोंमें भावेय जीवनके संबंधमें सुंदर उपदेश दिये। इसके बाद पान-सुपारीके पश्चात् सभाकी कार्यवाही समाप्त हुई।

४ त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते ।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन्वैश्वानर यत्पित्रोरदीदेः ॥ ५८ ॥

५ वैश्वानर तव तानि व्रतानि महान्यग्ने नकिरा दधर्ष ।
यज्जायमानः पित्रोरुपस्थेऽविन्दः केतुं वयुनेष्वह्नाम् ॥ ५९ ॥

सहायतासे शत्रुओंका पराभव करनेवाले होते हैं । हे (वैश्वानर राजन्) विश्वके नेता महाराज अग्नि ! (त्वं अस्मासु) तू हमको (स्पृहयाय्याणि वसूनि) प्रशंसनीय धन (धेहि) दे ।

१ वाजी त्वत् विप्रः जायते— बलवान् पुरुष तेरी सहायतासे विशेष ज्ञानी होता है । 'विप्रः त्वत् वाजी जायते' ज्ञानी तेरी सहायतासे बलवान होता है । ' वाजी त्वत् विप्रः जायते ' - अन्नवान् पुरुष उस अन्नका दान करनेसे- यज्ञ करनेसे-विशेष ज्ञानी होता है ।

२ वीरासः त्वत् अभिमातिषाहः- वीर क्षत्रिय तेरी सहायतासे शत्रुओंका पराभव करनेमें समर्थ होते हैं । (अभिमाति=शत्रु) ।

३ वैश्वानर राजन् - सब मानवोंका नेता राजा है । राजा सब मानवोंका नेता होता है ।

४ त्वं अस्मासु स्पृहयाय्याणि वसूनि धेहि— तू हमें प्रशंसनीय धन दे ।

मानव धर्म— ज्ञानी बलवान बने, बलवान ज्ञानी बने, शूर शत्रुका पराभव करनेमें समर्थ हो, सब मानवोंका नेता राजा हो और मानवोंको प्रशंसनीय धन प्राप्त हो ।

[४] (५८) हे (अमृत) मरणधर्म रहित अग्नि ! (विश्वे देवाः) सब देव अथवा सब किरण (जायमानं) उत्पन्न हुए (त्वां शिशुं न) तुझ बालकके (अभिसंनवन्ते) चारों ओर फैलते हैं । हे (वैश्वानर) विश्वके नेता अग्नि ! (यत् पित्रोः अदीदेः) जब तू मातापिता द्यावापृथिवीके बीचमें प्रदीप्त होता है, तब (तव क्रतुभिः अमृतत्वं आयन्) तेरे कर्मोंसे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होते हैं ।

हे अमर अग्नि ! सब किरण तू उत्पन्न होते ही तुझ बालक जैसेके चारों ओर फैलने लगते हैं । हे विश्वके नेता ! जब तू माता-पिता सदृश द्यावापृथिवीके बीचमें प्रदीप्त होता है, तब तेरे यज्ञकर्मोंसे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होते हैं ।

अग्नि उत्पन्न होते ही उसका तेज चारों ओर फैलता है । जब अग्नि प्रदीप्त होता है तब उसमें जो अर्पण द्वारा यज्ञ किये जाते हैं उनसे मनुष्यको अमृतत्वकी प्राप्ति होती है ।

अमरत्व प्राप्ति

" क्रतुभिः अमृतत्वं आयन् " - यज्ञोंसे, कर्मोंसे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त करते हैं । यह वेदका कहना है । आगे यज्ञसे स्वर्ग और ज्ञानसे अमरत्व मिलता है ऐसा मानने लगे । उपनिषदादिमें यही मत है । पर वेद तो यज्ञोंसे अमरत्व प्राप्त होनेका वर्णन कर रहा है ।

[५] (५९) हे (वैश्वानर अग्ने) वैश्वानर अग्नि ! (तव तानि व्रतानि महानि) तेरे उन प्रसिद्ध महान् कर्मोंमें (नकिः आ दधर्ष) कोई बाधा नहीं डाल सकता । (यत् पित्रोः उपस्थे) जब तूने पितरोंके समीप भागमें चले हुए (वयुनेषु जायमानः) यज्ञकर्मोंमें उत्पन्न होकर (अह्नां केतुं अविन्दः) दिनके केतुभूत सूर्यप्रकाशको प्राप्त किया ।

हे विश्वके नेता अग्नि ! तेरे महान् कर्मोंमें कोई रुकावट डाल नहीं सकता ऐसा तेरा सामर्थ्य है । तू अपने माता-पिताओंके समीप चले हुए यज्ञकर्मोंमें उत्पन्न होता है और दिनोंके प्रकाशक सूर्यको प्राप्त करता है ।

यज्ञके कर्म शुरू होनेपर दोनों अरणि रूप मातापिताके समीप भागमें अरणियोंके मन्थनसे अग्नि उत्पन्न होता है और यह अग्नि उत्पन्न होते ही सूर्य उदयकी परिस्थिति आती है । इसलिये वह सूर्यको प्राप्त करता है ऐसा कहा है ।

मानव धर्म- मनुष्य ऐसा सामर्थ्यवान् बने कि कोई शत्रु उसके चलाये कर्मोंमें प्रतिबंध खडा न कर सके ।

व्रतं- कर्म । **वयुनं**- कर्म, मार्ग ।

६ वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा सानूनि दिवो अमृतस्य केतुना ।
तस्येदु विश्वा भुवनाधि मूर्धनि वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः ॥ ६० ॥
७ वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः ।
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथेऽदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता ॥ ६१ ॥

(मं० ६, सू० ८)

१ पृक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू सहः प्र नु वोचं विदथा जातवेदसः ।
वैश्वानराय मतिर्नव्यसी शुचिः सोम इव पवते चारुरग्नये ॥ ६२ ॥

[६] (६०) (अमृतस्य केतुना) अमृतकी पताका रूप (वैश्वानरस्य चक्षसा) सब लोगोंके हितकारी अग्निके तेजसे (दिवः सानूनि विमितानि) द्युलोकके शिखर प्रकाशित हुए। (तस्य इत् उ मूर्धनि विश्वा भुवना) उसके मूर्धा स्थानमें सर्व भुवन रहते हैं। तथा (वया इव सप्त विस्रुह रुरुहु) शाखाकी तरह सात संख्यावाली सात नदियां वहींसे बहती हैं।

अमृतका रूप जैसे सब लोगोंके हितकारी अग्निके तेजसे द्युलोकतक पहुंचनेवाले सब शिखर प्रकाशित होते हैं। वहीं सब भुवन अर्थात् उत्पन्न हुए सब प्राणी रहते हैं और सात नदियाँ भी वहींसे चलती हैं।

सूर्यके प्रकाशमें (तथा अग्निके प्रकाशमें) अमृत अर्थात् जीवधारणका सत्त्व रहता है। सूर्यका उदय होनेके समय उसके प्रकाशसे पर्वतोंके शिखर प्रकाशित होते हैं। (अग्नि प्रज्वलित होते ही उसका प्रकाश प्रथम उँचे स्थानोंपर पहुंचता है।) उन पर्वत शिखरोंपर सब भुवन-सब प्राणी रहते हैं और वहांसे सात नदियाँ उत्पन्न होकर चलती हैं।

सूर्यका प्रकाश हिमालयके शिखरपर प्रथम गिरता है। वहाँ सब प्राणी प्रथम उत्पन्न हुए थे और नदियाँ भी वहींसे उत्पन्न हुई हैं। इसलिये वह स्थान विशेष महत्त्वका है।

१ वैश्वानरः- सब लोगोंका हित करनेवाला सबका नेता।

[७] (६१) (यः सुक्रतु वैश्वानरः रजांसि) जो उत्तम कर्म करनेवाला संपूर्ण मनुष्योंका हित करनेवाला यह अग्नि लोगोंको (वि अमिमीत) निर्माण करता है। तथा (दिवः रोचना कविः वि) द्युलोकके देदीप्यमान नक्षत्रादिको यह ज्ञाता ही बनाता है। (यः विश्वा भुवनानि परिपप्रथे) जिसने संपूर्ण भूतमात्रको सर्वतः विस्तारित किया है। (अदब्धः गोपाः अमृतस्य रक्षिता) वह न दबनेवाला सबका रक्षण करनेवाला वीर अमृतका संरक्षक है।

उत्तम कर्मोको करनेवाला सबका हितकारी यह अग्नि) ईश्वर सब लोगोंको निर्माण करता है, द्युलोकके ऊपरके प्रकाशमान नक्षत्रोंको भी इसी ज्ञानी (ईश्वर) ने बनाया है। सब भुवनोंको यही विस्तृत करता है। यह न दब जानेवाला संरक्षक और अमृतका रक्षक है।

१ सुक्रतु: कविः वैश्वानरः- उत्तम कर्म करनेवाला ज्ञानी सब मनुष्योंका हित करनेवाला होता है।

२ अदब्धः गोपाः अमृतस्य रक्षिता- किसी शत्रुके सामने न दबनेवाला वीर सबका संरक्षण करता है और अमरत्वका रक्षक भी वही है।

मानव धर्म- मनुष्य उत्तम कर्म करे, नेता बने, ज्ञानी बने, किसी दुष्टके सामने न दबे, सबका संरक्षण करे और अमर पदार्थका संरक्षण करे।

[१] (६२) (पृक्षस्य वृष्ण अरुषस्य) सर्वव्यापी बलवान् तेजस्वी (जातवेदसः सह विदथा) ज्ञानप्रसारक अग्निके बलका यज्ञमें (प्र वोचं) मैं वर्णन करता हूँ। (नव्यसी शुचिः चारुः मतिः) नवीन निर्मल सुन्दर बुद्धिपूर्वक की हुई स्तुति (वैश्वानराय अग्नये) विश्वनेता अग्निके लिये (सोम इव पवते) सोमरसके समान फैल रही है।

यह अग्नि सर्वव्यापक, बलशाली, तेजस्वी और ज्ञानप्रसारक है। विश्वके नेता रूप इस अग्निके लिये, सोमरसके समान, यह नवीन पवित्र सुंदर स्तोत्र गाया जा रहा है।

जातवेदाः- (जाता वेदा यस्मात्) वेद जिससे बने, ज्ञान जिससे फैलता है। (जातं वेत्ति) प्रत्येक बनी वस्तुको जो जानता है। (जाते विद्यते) प्रत्येक वस्तुमें जो है।

२ स जायमानः परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत ।
व्य१न्तरिक्षममिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत् ॥ ६३ ॥

३ व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः ।
विचर्मणीव धिषणे अवर्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ६४ ॥

४ अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥ ६५ ॥

---

१ नव्यसी शुचिः चारुः मतिः– नवीन पवित्र सुन्दर स्तोत्र । यह स्तोत्र नवीन है । यह (प्रवोचं) मैं बोल रहा हूँ ।

२ पृक्षस्य वृष्णः अरुषस्य जातवेदसः सहः प्रवोचं– सर्वव्यापक बलवान तेजस्वी ज्ञानी प्रभुके बलका वर्णन मैं करता हूँ । यह वर्णन मनुष्योंके लिये मार्गदर्शन करेगा । ये प्रभुके गुण अपनाने चाहिये ।

[२] (६३) (सः अग्निः व्रतपाः) वैश्वानर अग्नि व्रतका पालन करनेवाला (परमे व्योमनि जायमानः) ऊपरके परम आकाशमें सूर्यरूपसे उत्पन्न होकर (व्रतानि अरक्षत) उत्तम यज्ञकर्मोंकी रक्षा करता है । (अन्तरिक्षं वि अमिमीत) और अन्तरिक्षको मापता है । अथवा अन्तरिक्षस्थ पदार्थोंको बनाता है । तथा यह (सुक्रतुः वैश्वानरः) सुकर्मा विश्वहितकारी अग्नि (महिना) अपने तेजसे (नाकं अस्पृशत्) द्युलोकको स्पर्श करता है ।

वह विश्वहितकारी सर्वव्यापक अग्नि व्रतोंका पालन करनेवाला उच्च आकाशमें सूर्यरूपसे प्रकाशित होता है और यज्ञकर्मोंका पालन करता है । वह अन्तरिक्ष और उसमें रहे सब पदार्थोंका निर्माण करता है और उत्तम कर्म करनेवाला वह विश्वका नेता अपनी महत्तासे सब आकाशको व्यापता है ।

यह परमेश्वरका वर्णन अग्निरूपसे है । इससे सूर्य उत्पन्न होता है । आकाश अन्तरिक्ष आदि सब इसीसे उत्पन्न होते हैं । सूर्य उत्पन्न होते ही वह काल बनकर सब कर्मोंको करवाता है ।

१ अग्निः व्रतपाः– अग्रणी नियमोंका पालन करनेवाला हो ।

२ व्रतानि अरक्षत– वह नियमोंका संरक्षण करता रहे ।

३ सुक्रतुः वैश्वानरः– उत्तम कर्मोंको करनेवाला सबका हितकारी नेता हो ।

४ मानव धर्म– अग्रणी नियमोंका पालन करे । नियमोंसे किये शुभ कर्मोंका संरक्षण करे । स्वयं उत्तम कर्मोंको करे, सब का हित करे और अपने महत्त्वका विस्तार करे ।

[३] (६४) (मित्रः अद्भुतः रोदसी) सबके अद्भुत मित्र अग्निने द्यावापृथिवीको (न्यस्तभ्नात्) अपने स्थानपर स्थिर किया है । तथा (ज्योतिषा तमः अन्तर्वावत्) अपने तेजसे अन्धकारको दूर (अकृणोत्) किया है । (धिषणे चर्मणी इव वि अवर्तयत्) द्यावापृथिवीको दो चर्मोंकी तरह फैला दिया है । (वैश्वानरः विश्वं वृष्ण्यं अधत्त) यह सबका हितकारी अग्नि संपूर्ण बलको धारण करता है ।

१ वैश्वानरः विश्वं वृष्ण्यं अधत्त– सब मानवोंका हित करनेवाला नेता अग्रणि सब बल अपनेमें धारण करता है ।

२ ज्योतिषा तमः अन्तर्वावत् अकृणोत्– अपने प्रकाशसे अन्धकारको इसने दूर किया है । इस तरह नेता ज्ञान प्रसार द्वारा लोगोंके अज्ञानको दूर करे ।

यहाँ **'धिषणे चर्मणी इव व्यवर्तयत्'** कहा है । आकाश और पृथिवी ये दो चर्म सुखानेके लिये फैलाकर रखे हैं । यह एक अलंकारका वर्णन है । **'रोदसी व्यस्तभ्नात्'** आकाश और पृथिवीको अपने स्थानमें स्थिर करके रखा है इसलिये ये हिलते नहीं । यह एक आलंकारिक वर्णन है ।

[४] (६५) (अपां उपस्थे महिषाः) अन्तरिक्षके बीचके जलस्थानमें बडे ज्ञानियोंने (अगृभ्णत) अग्निको धारण किया, यहां विद्युत् रूपसे अग्नि है ऐसा जान लिया । (विशः राजानं) मनुष्योंने इस राजाकी (ऋग्मियं उपतस्थुः) अर्चनीय मानकर उसकी स्तुति की । (वैश्वानरं अग्निं दूतः मातरिश्वा) इस वैश्वानर अग्निको दूत बने वायुने (परावतः विवस्वतः आ अभरत्) दूर देशास्थित आदित्य मंडलसे इस लोकमें लाया है ।

५ युगेयुगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम् ।
पव्येव राजन्नघशंसमजर नीचा नि वृश्च वनिनं न तेजसा ॥ ६६ ॥

६ अस्माकमग्ने मघवत्सु धारयाऽनामि क्षत्रमजरं सुवीर्यम् ।
वयं जयेम शतिनं सहस्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः ॥ ६७ ॥

७ अदब्धेभिस्तव गोपाभिरिष्टेऽस्माकं पाहि त्रिषधस्थ सूरीन् ।
रक्षा च नो ददुषां शर्धो अग्ने वैश्वानर प्र च तारीः स्तवानः ॥ ६८ ॥

१ विशः अग्निमयं राजानं उपतस्थुः- प्रजाजन प्रशंसायोग्य राजाके समीप उपस्थित होते है । तद्वत लोग अग्निके चारों ओर उपस्थित रहते हैं । प्रशंसायोग्य राजाके पास प्रजा आती है । अर्थात जो राजा अयोग्य वर्तन करता है उसके साथ प्रजा नहीं रहती । यह राजकीय क्षेत्रका बोध यहाँ इस वाक्यसे मिलता है।

१ अपां उपस्थे महिषाः - जलस्थानमें भैंसे जाते हैं । यह सबके अनुभवकी बात है कि जलमें भैंसे तैरना पसंद करते हैं । यहाँ जलस्थान अन्तरिक्ष है और भैंसे मेघ हैं । मेघ बियुत अग्निको धारण करते हैं । '**महिषाः**' - बडी इच्छावाले, विशेष ज्ञानी ।

३ मातरिश्वा परावतः विवस्वतः अग्निं आभरत्- वायुने दूरके सूर्यसे अग्निको पृथिवीपर लाया ऐसा कहा है । यहाँ 'मातरि-श्वा' का अर्थ आकाशमें जो 'ईथर' नामक द्रव्य रहता है वह है । यह पदार्थ सूर्यसे विद्युत् और विद्युत्से अग्निको पृथिवीपर लाता है ।

[५] (६६) हे (अग्ने) अग्नि ! (युगेयुगे विदथ्यं) समय समयपर यज्ञमें (नव्यसीं गृणद्भ्य रयिं यशसं) नवीन स्तोत्रका उच्चारण करनेवाले स्तोताओंको धन और यशस्वी पुत्र (धेहि) देओ । हे (अजर राजन्) जरारहित राजाके समान तेजस्वी अग्नि ! (पव्या इव वनिनं न तेजसा) वज्रके आघातसे जैसा वृक्ष गिरता है वैसा अपने तेजसे (अघशंसं नीचा नि वृश्च) शत्रुको नीचे गिराओ ।

१ पव्या इव वनिनं न अघशंसं नीचा नि वृश्च- वज्रके आघातसे वृक्ष टूट पडता है, वैसे पापी शत्रुको नीचे गिरा दो । पापी शत्रुका नाश करो ।

२ अजर राजन्- जरारहित राजा हो । राजा निर्बल न हो । वृद्ध अवस्थामें भी तरुणके समान कार्य करे ।

३ यशसं रयिं धेहि- यश बढानेवाला, धन दो । पुत्र-पौत्र जिसके साथ रहते है ऐसा धन दो ।

[६] (६७) हे (अग्ने) अग्नि ! (अस्माकं मघवत्सु) हमारे धनी लोगोंमें (अनामि अजरं सुवीर्यं क्षत्रं धारय) दूसरा जिसका हरण नहीं कर सकता ऐसा, अविनाशी, उत्तम वीरतायुक्त क्षात्रबल रख । हे (वैश्वानर अग्ने) विश्वका हित करनेवाले अग्नि ! (तव ऊतिभिः वयं शतिनं सहस्रिणं) तेरे संरक्षणसे सौ तथा हजारों मनुष्योंके साथ रहनेवाला (वाजं जयेम) बल हम प्राप्त करें ।

मानव धर्म— धनी लोगोंमें अक्षय, वीरतायुक्त क्षात्रबल बढे उसका अपहरण कोई न कर सके । हमें सौ और हजारों संरक्षक वीर जिसके साथ रहते हैं ऐसा सात्त्विक बल प्राप्त हो ।

१ मघवत्सु अ-नामि अजरं सुवीर्यं क्षत्रं धारय— धनिकोंमें जिसका नाश नहीं होता, जिसमें क्षीणता नहीं आती, जिसके साथ उत्तम वीरता रहती है ऐसा क्षात्रबल रहे । धनी लोग प्रायः भीरु रहते हैं । इसलिये उनको यह उपदेश स्मरण रखना चाहिये ।

१ वयं शतिनं सहस्रिणं वाजं जयेम- हम सौ और हजारों वीर जिसके साथ रहते हैं ऐसा बल प्राप्त करेंगे । (**वाजं**= बल, अन्न, धन)

[७] (६८) हे (त्रिषधस्थ इष्टे) तीनों स्थानोंमें रहनेवाले यजनीय अग्नि ! (तव अदब्धेभिः गोपाभिः अस्माकं सूरीन् पाहि) तेरे न दबनेवाले संरक्षणोंसे हमारे ज्ञानियोंकी रक्षा कर । हे (वैश्वानर अग्ने) सर्व हितकारी अग्नि ! (ददुषां नः शर्धः रक्ष च) दान देनेवाले हमारे बलकी रक्षा कर । (स्तवानः प्र च तारीः) प्रशंसित होकर तू हमारा तारण कर ।

१ तव अदब्धेभिः गोपाभिः अस्माकं सूरीन् पाहि- तेरे अदम्य संरक्षणोंसे हमारे विद्वानोंको सुरक्षित रख । हमारे देशमें ज्ञानी सुरक्षित रहे । ज्ञानी निर्भय हों ।

(मं० ६, सू० ९)

१ अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः ।
वैश्वानरो जायमानो न राजाऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥ ६९ ॥
२ नाहं तन्तुं न वि जानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः ।
कस्य स्वित्पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा ॥ ७० ॥
३ स इत्तन्तुं स वि जानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुथा वदाति ।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन्परो अन्येन पश्यन् ॥ ७१ ॥

१ ददुषां नः शर्धः रक्ष- हम दान देते हैं, अत. हमारा सात्त्विक बल सुरक्षित हो । किसी शत्रुसे आक्रान्त न हो ।

३ तारीः- हमारा तारण कर, हमारा अभ्युदय कर ।

मानव धर्म- राष्ट्रमें विद्वान् निर्भय हों । दाताओंका सात्त्विक बल बढे और उनका उत्कर्ष हो ।

[१] (६९) (कृष्णं अहः) कृष्ण वर्णवाला रात्रि (च अर्जुनं च अहः) और शुक्ल वर्णवाला दिन ये दोनों (रजसी वेद्याभिः वि वर्तेते) अपने तेजसे सब जगत्को रंगाते हुए, अपनी नियत योजनाके अनुसार वारंवार संचार करते रहते हैं । (वैश्वानरः अग्निः जायमानः न राजा) विश्वका हित करनेवाला अग्नि उत्पन्न होकर राजाके समान (ज्योतिषा तमांसि अवातिरत्) अपने तेजसे अन्धकारका नाश करता है ।

काले रंगवाली रात्री और श्वेत रंगवाला दिन ये दोनों अपने अपने रंगोंसे सब जगत्को रंगाते हुए अपनी नियत योजनासे वारंवार इस जगत्में संचार करते हैं। विश्वका हित करनेवाला अग्नि उत्पन्न होते ही राजा जैसा शक्तिसे बढता है, वैसा बढकर अपने तजसे सब प्रकारके अन्धकारोंका नाश करता है ।

१ **वैश्वानरः अग्निः जायमानः, न राजा, ज्योतिषा तमांसि अवातिरत्** – विश्वका नेता अग्नि, उत्पन्न होते ही राजाके समान बढकर अपने तेजसे अन्धकारोंको दूर करता है । वैसा मनुष्य अधिक ज्ञानी बनकर अपने ज्ञानसे दूसरोंके अज्ञान दूर करें ।

[२] (७०) (अहं तन्तुं न वि जानामि) सीधे तन्तुको मैं नहीं जानता और (ओतुं न) तिरछे सूत्रको भी नहीं जानता । (न यं समरे अतमानाः वयन्ति) जो वस्त्र स्पर्धायुद्धमें सतत प्रयत्न करनेवाले बुनते है उसको भी मैं नही जानता । (इह कस्य स्वित् पुत्रः) इस लोकमें किसका भला पुत्र (परः) श्रेष्ठ होकर (अवरेण पित्रा वक्त्वानि वदाति) अपने पासके पितासे मिलकर इस विषयके योग्य वक्तव्यको बोलता है ।

मैं कपडेके सीधे धागेको नहीं जानता और तिरछे धागेको भी नहीं जानता । तथा स्पर्धामें सतत घूमकर जो वस्त्र बुनते हैं उनको भी नहीं जानता । भला किसका पुत्र यहां श्रेष्ठ होकर अपने पितासे मिलकर इस सम्बन्धके योग्य वक्तव्योंको बोल सकता है ?

यह मन्त्र जीवनका आलंकारिक वर्णन करता है । जन्मसे मृत्युतकका जो काल है वह एक अखंड वस्त्र है । उसमें सीधे और तिरछे ऐसे तन्तु रहते हैं । जीवन एक समर युद्ध है । इसमें विजयार्थ यत्न करनेवाले लोग इस वस्त्रको बुन रहे हैं । किसका पुत्र किस पितासे मिलकर इस विषयमें सच्चा ज्ञान कह सकता है ? दीर्घ जीवन कितना है, बीचके कालविभाग कैसे आते जाते हैं । यह किसीको पता नहीं है । इस जीवनसमरमें विजयके लिये युद्धका प्रयत्न करनेवाले अपने प्रयत्नसे यह वस्त्र बुन रहे है । यहां कौन ऐसा है कि जो पुत्र अपने पितासे मिलकर इस वस्त्रका ठीक ठीक वर्णन कर सकेगा । अर्थात् सर्वसाधारण जनोंमें कोई यह नहीं कह सकता ।

[३] (७१) (स इत् तन्तुं वि जानाति) वह वैश्वानर निःसंदेह तन्तुको जानता है और (सः ओतुं) वह तिरछे सूत्रको भी जानता है । (ऋतुथा वक्त्वानि वदाति) उस ऋतुके अनुसार करनेयोग्य वक्तव्योंको वह कहता है । (यः अमृतस्य गोपाः अवः चरन्) जो अमृतकी रक्षा करनेवाला नीचे भूलोकमें अग्निरूपसे संचार करता हुआ (परः अन्येन पश्यन् ईं चिकेतत्) दूर रहकर सूर्यरूपसे सम्पूर्ण जगत्को देखता है और सबको जानता है ।

४ अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३वर्धमानः ॥ ७२ ॥
५ ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः ।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥ ७३ ॥
६ वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूरआधीः किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥ ७४ ॥
७ विश्वे देवा अनमस्यन्भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम् ।
वैश्वानरोऽवतूतये नोऽमर्त्योऽवतूतये नः ॥ ७५ ॥

वह वैश्वानर अग्नि निःसन्देह सीधे धागेको जानता है और वही तिरछे धागेको भी जानता है। वही ऋतुके अनुसार करनेयोग्य कर्मोंमें जो कहना चाहिये उसको कहता है। वह अमृतका संरक्षक भूलोकमें अग्निरूपसे संचार करता है और दूर आकाशमें रहकर सूर्यरूपसे सबका निरीक्षण करता है और सबको जानता भी है।

[४] (७२) (अयं प्रथमः होता) यह अग्नि पहिला होता है। (इमं पश्यत) हे मनुष्यों ! तुम इस अग्निको देखो। (मर्त्येषु अमृतं इदं ज्योतिः) मरणशील प्राणियोंमें यही मरणरहित ज्योति है। (सः अयं ध्रुवः आ निषत्तः) वह यह अग्नि स्थिर शाश्वत, सर्वव्यापी (अमर्त्यः तन्वा जज्ञे वर्धमानः च) अमर और शरीरसे उत्पन्न होता है और बढता भी है।

यह वैश्वानर-सब विश्वका संचालक अग्निरूपसे रहनेवाला परमात्मा पहिला याजक है। हे मनुष्यो ! तुम इसको देखो। मर्त्य प्राणियोंमें यह अमर ज्योति है। यह सबमें शाश्वतरूपसे रहता और सबको व्यापता है। यह अमर है, यह शरीरके साथ उत्पन्न होकर बढता जाता है।

यहाँ अग्निरूपके वर्णनसे आत्माका वर्णन किया है। अखंड आयुष्यका वस्त्र है और दिन रात्रीके धागे इसमें बुने जा रहे हैं। पहिले मंत्रमें यह स्पष्ट किया है।

[५] (७३) (ध्रुवं मनः जविष्ठं) स्थिर होनेपर भी मनसे अत्यन्त वेगवान् ज्योति (पतयत्सु अन्तः) सब जंगम प्राणियोंके मध्यमें (कं दृशये) सुखके दर्शनके लिये (निहितं) स्थापित है। (विश्वे देवाः समनसः सकेताः) सब देव समान विचार करते हुए और समान प्रज्ञावाले होकर (एकं क्रतुं साधु अभि वि यन्ति) एक मुख्य कर्तृत्व करनेवालोंकी सब प्रकारसे सेवा करते हैं।

स्थिर रहनेवाला मन भी अत्यन्त वेगवान और तेजःस्वरूप है। यह सब जंगम प्राणियोंमें आनन्द अनुभव करनेके लिये स्थापित किया है। सब देव एक मन और एक प्रज्ञाके साथ इसी एक मुख्य कर्मकर्ताकी सब प्रकारसे सेवा करते हैं।

एक मनकी सेवा चक्षु आदि सब इन्द्रियां करती हैं। यह मन यहां मुख्य है।

[६] (७४) (मे कर्णा वि पतयतः) उसके विषयमें सुननेकी इच्छा करनेवाले मेरे कान उधर दौडते हैं। (चक्षुः वि) मेरी आंखें उसको देखनेकी इच्छासे उधर जाती है। (ज्योतिः हृदये आहितं) हृदयमें रहा हुआ यह प्रकाश स्वयं ज्योति है। (यत् इदं वि) जो यह बुद्धिरूप तत्त्व है वह भी उसीके पीछे जाता है। (दूर आधीः मे मनः वि चरति) दूरस्थ विषयका विचार करनेवाला मेरा मन इधर उधर फिरता रहता है। (किं स्वित् वक्ष्यामि) इससे अधिक मैं क्या कहूंगा, (किं उ नु मनिष्ये) और किसका अधिक विचार करूं ?

उस अन्दरकी ज्योतिके विषयमें सुननेके लिये मेरे कान दौड रहे हैं और मेरे चक्षु भी उसीको देखना चाहते हैं। वह ज्योति हृदयमें रखी गई है। जो यहां यह बुद्धिरूप तत्त्व है वह भी उसीकी खोजमें घूम रहा है। दूरदूरके विषयोंका ध्यान करनेवाला मेरा मन तो सतत दौड रहा है। अब मैं अधिक क्या कहूं और अधिक किसका विचार करूं ? इस मन्त्रने पूर्व मन्त्रके सन्देह दूर किये हैं।

[७] (७५) हे वैश्वानर अग्नि ! (तमसि तस्थिवांसं त्वां विश्वेदेवाः) अन्धकारमें रहनेवाले तुझको सब देव (अनमस्यन्) नमस्कार करते हैं। क्योंकि मनुष्य (भियानाः) अन्धकारसे भयभीत हुए हैं। (अमर्त्यः वैश्वानरः) अतः मरणरहित यह वैश्वानर अग्नि (नः ऊतये अवतु) हमारी रक्षा करनेवाला हो।

(मं० ६, सू० १०)

१ पुरो वो मन्द्रं दिव्यं सुवृक्तिं प्रयति यज्ञे अग्निमध्वरे दधिध्वम् ।
पुर उक्थेभिः स हि नो विभावा स्वध्वरा करति जातवेदाः ॥ ७६ ॥
२ तमु द्युमः पुर्वणीक होतरग्ने अग्निभिर्मनुष इधानः ।
स्तोमं यमस्मै ममतेव शूषं घृतं न शुचि मतयः पवन्ते ॥ ७७ ॥
३ पिपाय स श्रवसा मर्त्येषु यो अग्नये ददाश विप्र उक्थैः ।
चित्राभिस्तमूतिभिश्चित्रशोचिर्व्रजस्य साता गोमतो दधाति ॥ ७८ ॥

हे वैश्वानर अग्ने ! अन्धकारमें रहनेवाले तुझको सब देव नमन करते हैं । वे अन्धकारसे डरते हैं । यह अमर वैश्वानर अग्नि हमारी रक्षा करे ।

सबमें जो नररूपसे रहता है वह वैश्वानर है । यह विश्वका नेता है । अन्धकारमें रहनेवाले देव इंद्रियां हैं । ये इंद्रियां इस नेता-आत्माको-नमन करती है । इससे इनका भय दूर होता है । यही सबको निर्भय करनेवाला है । इस सूक्तके अन्तिम दो मंत्रोंने इस सूक्तको अधिक स्पष्ट किया है । यह वैश्वानर आत्मा है, मन और इंद्रियां उसकी सेवा करनेवाली हैं । दिन रात्रि ये धागे हैं और आयुष्यरूप वस्त्र बनाया जा रहा है ।

[१] (७६) हे मनुष्यों ! (मन्द्रं दिव्यं सुवृक्तिं) तुम लोग आनन्ददायक दिव्य व प्रशंसनीय (अग्निं) अग्निको (अध्वरे यज्ञे प्रयति वः पुरः दधिध्वं) हिंसारहित यज्ञका प्रारंभ होते ही अपने सन्मुख स्थापित करो । उसको (उक्थेभिः पुर.) स्तोत्रगान करके प्रथम स्थापित करो । क्योंकि (सः विभावा जातवेदाः हि) वह देदीप्यमान ज्ञानी अग्नि है । वही (न स्वध्वरा करति) हमारे यज्ञोंको सुफल करता है ।

हे मनुष्यो ! तुम सब मिलकर आनन्ददायक दिव्य निर्दोष अग्निको हिंसारहित यज्ञकर्मका प्रारंभ होते ही अपने सन्मुख स्थापित करो । स्तोत्रोंसे उसकी स्तुति करके उसको बढाओ । वह ज्ञानप्रसारक तेजस्वी अग्नि हमारे यज्ञोंको सुफल कर सकता है ।

मानव धर्म- मनुष्य आनंददायक, दिव्य गुण धर्मयुक्त, प्रशंसनीय, दोषरहित, वैभवयुक्त, ज्ञानप्रसारक बने और हिंसारहित कर्म करे ।

(मन्द्रः) हर्षवर्धक, (दिव्यः) दैवी गुणधर्मवाला, (सुवृक्ति) उत्तम वर्णनीय गुणयुक्त, (विभावा) वैभवयुक्त, (जातवेदाः) वेद प्रचारक, ज्ञानप्रसारक, (अ-ध्वरः) हिंसारहित अकुटिल कर्म ।

[२] (७७) हे (द्युमः) दीप्तिमान् (पुर्वणीक) बहुत ज्वालावाले (होतः) देवोंको आह्वान करनेवाले (अग्ने) अग्नि ! (अग्निभिः इधानः) अन्य अग्नियोंके साथ प्रदीप्त होकर (मनुष. तं उ) मनुष्यने की हुई उस स्तुतिको सुन । (यं स्तोमं, घृतं न शूषं) जो स्तोत्र सुखकर पवित्र घीकी तरह बलवर्धक (शुचि) शुद्ध है । (अस्मै मतयः ममता इव) इस स्तोत्रको बुद्धिमान स्तोता ममत्वसे गानेके समान (पवन्ते) निर्दोष उच्चार करते है ।

मानव धर्म- मनुष्य तेजस्वी बने, बहुत वीरोंको अपने साथ रखे, विबुधोंको अपने पास बुलावे, अन्य नेताओंके साथ रहे और प्रकाशित हो जावे । बल बढानेवाला शुद्ध पवित्र भाषण करे, ममतासे लोगोंमें पवित्रता निर्माण करें ।

(पुरु-अनीकः) बहुत सेना अपने साथ रखनेवाला, (शूषं स्तोमं) बलवर्धक मंत्रका उच्चारण करो । (मतयः ममता अस्मै पवन्ते) उत्तम बुद्धियाँ ममत्वके साथ उपदेश करके पवित्रता उत्पन्न करती हैं ।

[३] (७८) (सः मर्त्येषु श्रवसा पीपाय) वह मनुष्य मनुष्योंके बीचमें हविष्यान्नसे अग्निको बढाना है । (यः विप्रः उक्थैः ददाश) जो बुद्धिमान् मनुष्य स्तुति द्वारा हव्य देता है, (तं चित्रशोचिः चित्राभिः ऊतिभिः) उस मनुष्यको यह विलक्षण कान्तिवाला अग्नि आश्चर्यकारक सुरक्षाओंके साथ (गोमतः व्रजस्य साता दधाति) गौओंके श्रेष्ठ बाडे देनेमें सहायक होता है ।

मानव धर्म- मनुष्योंमें अधिक यश प्राप्त करके मनुष्य अपनी उन्नतिका साधन करे । जो ज्ञानी उत्तम पवित्र भाषणके

४ आ यः पप्रौ जायमान उर्वी दूरेदृशा भासा कृष्णाध्वा ।
अध बहु चित्तम उर्म्यायास्तिरः शोचिषा ददृशे पावकः ॥ ७९ ॥
५ नू नश्चित्रं पुरुवाजाभिरूती अग्ने रयिं मघवद्भ्यश्च धेहि ।
ये राधसा श्रवसा चात्यन्यान्त्सुवीर्येभिश्चाभि सन्ति जनान् ॥ ८० ॥
६ इमं यज्ञं चनो धा अग्न उशन्यं त आसानो जुहुते हविष्मान् ।
भरद्वाजेषु दधिषे सुवृक्तिमवीर्वाजस्य गध्यस्य सातौ ॥ ८१ ॥

साथ दान देता है, उसको तेजस्वी नेता उत्तम संरक्षणोंके साथ गौओंके वाडे आदि धन देता है अर्थात दान देनेवालेको धन मिलता है।

१ **सः मर्त्येषु श्रवसा पीपाय**— वह साधक वीर मानवोंमें यशके साथ परिपुष्ट होता है। उन्नत होता है।

१ **विप्रः उक्थैः ददाश**— ज्ञानी उत्तम विचारोंके साथ दान देता है।

३ **चित्रशोचिः चित्राभिः ऊतिभिः गोमतः व्रजस्य साता दधाति**— विलक्षण तेजस्वी वीर नेता विलक्षण संरक्षणोंके साथ गौओंके वाडे उसको देता है।

(चित्रा-ऊति.) विलक्षण श्रेष्ठ संरक्षण, (श्रवः- अन्न, यश, बल।)

[४] (७९) (कृष्णाध्वा यः जायमानः) कृष्णवर्त्मा अग्नि उत्पन्न होकर (दूरेदृशा भासा उर्वी आ पप्रौ) दूरसे ही दृश्यमान ऐसी अपनी कान्तिसे विस्तीर्ण द्यावापृथिवीको भर देता है। (अध पावकः) फिर वह पवित्र अग्नि (ऊर्म्यायाः बहु चित् तमः शोचिषा तिरः ददृशे) रात्रीके अत्यन्त घने अन्धकारको अपने तेजसे दूर कर रहा है, ऐसा दिखाई देता है।

मानव धर्म— काले अन्धकारके मार्गसे जाकर वहां प्रकाश करनेवाला वीर अपने प्रकाशसे विस्तीर्ण क्षेत्रको भर देता है। पवित्रता करनेवाला नेता रात्रीके अन्धकारको दूर करता है, सर्वत्र प्रकाश करता है। (मनुष्य अन्धकारको दूर करनेके लिये प्रकाश उत्पन्न करे।)

कृष्ण-अध्वा— काला मार्ग जिसका है। अग्नि जलाता हुआ जाता है, इसलिये उसका मार्ग काला होता है।

१ **दूरेदृशा भासा उर्वी आपप्रौ**— दूर फैलनेवाले प्रकाशसे विस्तृत कार्यक्षेत्रको भर दो।

२ **पावकः**— स्वयं पवित्र बनो और पवित्रता करो।

३ **ऊर्म्यायाः बहुचित्तम. शोचिषा तिरः ददृशे**— रात्रीके घने अन्धेरेको भी अपने प्रकाशसे दूर करो।

[५] (८०) हे (अग्ने) अग्नि ! (मघवद्भ्यः नः पुरु-वाजाभिः ऊती) धनवान हुए हमको बहुत रक्षणके साथ (चित्रं रयिं नु धेहि) चाहनेयोग्य धन शीघ्र देवो। (ये राधसा श्रवसा च सुवीर्येभिः) जो सिद्धिसे यश और उत्तम वीर्यसे (अन्यान् जनान् अति अभि सन्ति) अन्य मनुष्योंसे अतिशय श्रेष्ठ हैं वैसे वीर्यवान् पराक्रमी हमें बनाओ।

मानव धर्म— धनवानोंको बहुत धन मिले और बहुत संरक्षण भी प्राप्त हो। जो सिद्धि, यश और पराक्रमोंसे अति-श्रेष्ठ बने हैं, उनसे भी श्रेष्ठ हम बनें।

१ **मघवद्भ्यः पुरुवाजाभिः ऊती**— धनवालेको बहुत अन्न मिले और बहुत संरक्षण भी प्राप्त हो।

२ **ये राधसा श्रवसा सुवीर्येभिः च अन्यान् जनान् अति अभिसन्ति**— जो सिद्धि, यश और पराक्रमोंसे अन्योंकी अपेक्षा अधिक है, वैसे हम बनें।

[६] (८१) हे (अग्ने) अग्नि ! (उशन् इमं यज्ञं चनः धाः) हविष्यान्नकी इच्छावाला तू इस यज्ञसाधनभूत अन्नका स्वीकार कर। (यं आसानः हविष्मान्) जो यहाँ बैठा हुआ हविर्युक्त मनुष्य (ते जुहुते) तेरे लिये हवन करता है। (भर-द्वाजेषु सुवृक्तिं दधिषे) ये भरद्वाज गोत्रके ऋषियोंने की स्तुति-को स्वीकार कर। (गध्यस्य वाजस्य सातौ अवीः) अन्नधना-दिकी प्राप्तिके यत्नमें उन ऋषियोंकी रक्षा कर।

मानव धर्म- यज्ञ करनेकी इच्छा कर, अन्नका धारण कर, यज्ञशालामें बैठकर हवन कर, अन्नधनकी प्राप्ति करनेका यत्न जो करते हैं, उनका संरक्षण हो। जो अन्नका दान करते हैं उनकी प्रशंसा हो।